द्वादशोऽध्यायः

ऋषिः—वत्सप्रीः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

द्यौः-सुरेताः

दृशानो रुक्मऽउर्व्या व्यद्यौद् दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः।
अग्निरमृतोऽअभवद्वयोभिर्यदेनं द्यौरजनयत्सुरेताः॥१॥

१. पिछले अध्याय की समाप्ति पर उत्तम सात्त्विक अन्न के सेवन का उपदेश है। 'उस अन्न के सेवन से मनुष्य का जीवन किस प्रकार उत्तम बनता है' इस बात के प्रतिपादन से यह अध्याय प्रारम्भ होता है। अन्न बीज है और माता-पिता व आचार्य भूमि व खाद आदि हैं। जीवन-निर्माण में बीज का भी स्थान है और भूमि का भी। अन्न का वर्णन पिछले मन्त्र में हुआ है, प्रस्तुत मन्त्र में आचार्य के लिए '**द्यौः** और **सुरेताः**'—इन शब्दों का प्रयोग हुआ है। आचार्य प्रकाशमय जीवनवाला तथा उत्तम रेतस्वाला हो। ऐसा ही आचार्य विद्यार्थी के जीवन का विकास करता है। २. यह विकसित जीवनवाला **दृशानः**=सब वस्तुओं को ठीक रूप में देखता है, अतः यह संसार में उलझता नहीं। ३. **रुक्मः**=विषयों में न उलझनेवाला यह (रुच दीप्तौ) चमकता है। इसका स्वास्थ्य ठीक रहता है। यह स्वास्थ्य की चमक से चमकता है। ४. **उर्व्या**=विशालता से **व्यद्यौत्**=यह दीप्त होता है। इसका हृदय विशाल होता है। ५. **आयुः**=इसका जीवन **दुर्मर्षम्**=विषयों से न कुचला जाने योग्य होता है। ६. **श्रिये रुचानः**=श्री के लिए यह रुचिवाला होता है। यह प्रत्येक कार्य को शोभा से करता है। ७. **अग्निः**=यह निरन्तर प्रगतिशील होता है। ८. **अमृतः अभवत्**=यह अमृत होता है, रोग इसकी मृत्यु का कारण नहीं बनते। **यत्**=क्योंकि **एनम्**=इसे **सुरेताः**=उत्तम रेतस्वाला, अर्थात् ब्रह्मचारी **द्यौः**=ज्योतिर्मय मस्तिष्कवाला आचार्य **वयोभिः**=उत्तम अन्नों से **अजनयत्**=विकसित करता है। आचार्य इस बात का बड़ा ध्यान रखता है कि उसके विद्यार्थी का अन्न सात्त्विक हो, जिससे उसकी वृत्ति भी सात्त्विक ही बने। ९. इस प्रकार उत्तम जीवनवाला यह 'वत्सप्री' कहलाता है। इसका जीवन वेदप्रतिपादित बातों को क्रियान्वित किये हुए है और पवित्र कर्मों से वह अपने पिता प्रभु को प्रीणित करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम उत्तम अन्न के सेवन से उत्तम जीवनवाले बनें।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

माता-पिता

नक्तोषासा समनसा विरूपे धापयेते शिशुमेकꣳसमीची।
द्यावाक्षामा रुक्मोऽअन्तर्विभाति देवाऽअग्निं धारयन् द्रविणोदाः॥२॥

१. पिछले मन्त्र में जीवन-निर्माण करनेवाले आचार्य का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में 'माता-पिता' का प्रतिपादन है। 'माता-पिता' **नक्तोषासा**=रात्रि व दिन के समान हैं अथवा **द्यावाक्षामा**=द्युलोक व पृथिवीलोक के समान हैं (द्यौरहं पृथिवी त्वम्)। रात्रि उस समय की सूचक है जब सब घर पर रहते हैं और उषा या दिन उस समय का जब सब

अपने कार्यों पर बाहर जाते हैं, अतः नक्त=रात्रि माता की सूचक है। माता ने घर पर रहकर घर की व्यवस्था का ध्यान करना है, **उषा**=दिन पिता का प्रतीक है, उसे घर के व्यय के लिए धनार्जन के हेतु से बाहर जाना है। पिता ने द्युलोक की भाँति ज्ञान-दीप्त होना है तो माता ने पृथिवी के समान क्षमावाला होना है। २. इस प्रकार ये दोनों **विरूपे**=भिन्न-भिन्न रूपवाले होते हुए भी **समीची**=(सम् अञ्च्) मिलकर गतिवाले हैं। ये दोनों मिलकर घर को बड़ा सुन्दर बनाने का प्रयत्न करते हैं। **समनसा**=दोनों के मन समान होते हैं। दोनों का उद्देश्य एक ही है—'सन्तानों को उत्तम बनाना'। ये दोनों **एकं शिशुम्**=एक शिशु को **धापयेते**=दूध पिलाते हैं और इस प्रकार उसका पालन करते हैं। ३. यह उत्तम प्रकार से पालित हुआ सन्तान **रुक्मः**=स्वस्थ शरीरवाला होता हुआ चमकता है। **द्यावाक्षामा अन्तः**=यह माता और पिता के बीच में **विभाति**=विशेषरूप से दीप्त होता है और **द्रविणोदाः**=ज्ञान-धन को देनेवाले **देवाः**=विद्वान् आचार्य **अग्निम्**=इस प्रगतिशील बालक को **धारयन्**=अपने गर्भ में धारण करते हैं। इसे पूर्णरूप से सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते हैं, जिससे यह संसार के वैषयिक जीवन से बचा रहे। इसके जीवन को पवित्र बनाते हुए ये इसे ज्ञान-धन से परिपूर्ण करने का प्रयत्न करते हैं। ५. ज्ञान-धन से पवित्र हुए ये 'कुत्स' बनते हैं, सब वासनाओं को 'कुथ हिंसायाम्' नष्ट करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—माता-पिता व आचार्य बालक के जीवन को बड़ा सुन्दर बनाते हैं। माता-पिता इसे 'स्वास्थ्य धन' प्राप्त कराते हैं तो आचार्य 'ज्ञान-धन'। इन धनों को प्राप्त करके यह सचमुच 'कुत्स' होता है—रोगों व पापों की हिंसा करनेवाला।

ऋषिः—श्यावाश्वः। **देवता**—सविता। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

श्यावाश्व का विश्वरूप प्रतिमोचन

विश्वा॑ रू॒पाणि॒ प्रति॑मुञ्चते क॒विः प्रासा॑वीद् भ॒द्रं द्वि॒पदे॒ चतु॑ष्पदे।
वि नाक॑मख्यत्सवि॒ता वरे॒ण्योऽनु॒ प्रया॑ण॒मुष॒सो॒ वि रा॑जति॥३॥

१. गत मन्त्रों के अनुसार माता-पिता व आचार्य से स्वास्थ्य, सदाचार व ज्ञानरूप धनों को प्राप्त करनेवाला यह व्यक्ति 'श्यावाश्व' बनता है (श्यैङ् गतौ, अश्व=इन्द्रियाँ)। गतिशील इन्द्रियोंवाला। यह सदा क्रियाशील बनता है। यह **विश्वा रूपाणि**=ज्ञान के सब शब्दों को अथवा छन्दों को (रूप, word or verse) **प्रतिमुञ्चते**=(put on, arm oneself with) धारण करता है अथवा उन छन्दों से अपने को सन्नद्ध करता है। इनसे सुसज्जित होकर वह अपने को पापों के आक्रमण से बचाता है। २. **कविः**=यह क्रान्तदर्शी होता है—सब वस्तुओं को ठीक स्वरूप में देखता है। ठीक रूप में देखने के कारण ही उनमें फँसता नहीं। ३. यह संसार में **द्विपदे चतुष्पदे**=मनुष्यों व अन्य प्राणियों के लिए **भद्रम्**=कल्याण **प्रासावीत्**=उत्पन्न करता है। यह सबका भला करने का ध्यान करता है। ४. परिणामतः यह **नाकम्**=स्वर्ग को **वि अख्यत्**=विशेषरूप से देखता है। **'अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्'** के अनुसार इसे सब रत्न प्राप्त होते हैं। किसी हितरमणीय वस्तु की इसे कमी नहीं रहती। ५. **सविता**=यह सदा सबको हित की प्रेरणा देता है और उत्पादक होता है, अर्थात् निर्माण के ही कर्मों में लगा रहता है। ६. **वरेण्यः**=वरण करनेवालों में उत्तम होता है। धीर बनकर यह विवेकपूर्वक 'श्रेय' का ही वरण करता है। मन्दमतियों की भाँति 'प्रेय' का वरण करनेवाला नहीं होता। ७. **उषसः प्रयाणम् अनु**=उषः के आने के साथ ही **विराजति**=विशेषरूप

से दीप्त होता है अथवा विशेषरूप से अपने नियमित कार्यक्रम में चल पड़ता है (regulated)। ८. इस प्रकार यह 'श्यावाश्व' नियमित गति करता हुआ ऊपर उठता है। इसके जीवन की विशेषता का प्रतिपादन अगले मन्त्र में है।

भावार्थ—श्यावाश्व १. छन्दों को अपना कवच बनाता है। २. क्रान्तदर्शी बनता है। ३. सबका भला करता है। ४. स्वर्ग में स्थित होता है। ५. सबको उत्तम प्रेरणा देता हुआ निर्माणात्मक कार्यों को करता है। ६. श्रेय का ही वरण करता है। ६. जीवन की क्रियाओं में बड़ा व्यवस्थित होता है।

ऋषिः—श्यावाश्वः। **देवता**—गरुत्मान्। **छन्दः**—भुरिग्धृतिः। **स्वरः**—ऋषभः॥

सुपर्ण-गरुत्मान्

सुपर्णोऽसि गरुत्माँस्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ। स्तोमऽआत्मा छन्दाꣳस्यङ्गानि यजूꣳषि नाम। साम ते तनूर्वामदेव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः। सुपर्णोऽसि गरुत्मान्दिवं गच्छ स्वः पत॥४॥

१. **सुपर्णः असि**=गत मन्त्र का व्यवस्थित क्रियाओंवाला श्यावाश्व (गतिशील इन्द्रियोंवाला) उत्तम प्रकार से पालनादि कर्मोंवाला होता है (पॄ पालनपूरणयोः) २. **गरुत्मान् (गुर्वात्मा)**=यह विशाल हृदयवाला होता है। ३. **त्रिवृत्** (त्रीणि यत्र वर्तन्ते)=ज्ञान, कर्म व उपासना तीनों के समन्वयवाला साम ही **ते शिरः**=तेरा मस्तिष्क है। तू 'ज्ञान, कर्म व उपासना' को अपने जीवन में प्रधान स्थान देता है। ४. **गायत्रम्**=प्राणों की रक्षा ही तेरा **चक्षुः**=दृष्टिकोण है, अर्थात् तू कोई ऐसा कर्म नहीं करता जो प्राण व शक्ति का ह्रास करे। ५. **बृहद्रथन्तरे**=बृहत् और रथन्तर **पक्षौ**=तेरे पक्ष होते हैं। **बृहत्**=वृद्धि तथा **रथन्तर**=शरीररूप रथ से भवसागर को तैर जाना ही तेरे पंख हैं। इन दो विचारों के परिग्रह से तू निरन्तर ऊपर उठता जाता है। ६. **स्तोमः आत्मा**=स्तुति ही तेरा आत्मा है, अर्थात् तेरा मन सदा प्रभु का स्तवन करता है। ७. **छन्दांसि अङ्गानि**=छन्द तेरे अङ्ग हैं, अर्थात् इन छन्दों से ही तेरा जीवन बना हुआ है। ये छन्द तुझे सदा पापों व रोगों के आक्रमण से बचाते हैं। ८. **यजूंषि नाम**=यज्ञ तेरी कीर्ति है। तू अपने श्रेष्ठतम कर्मों के कारण प्रसिद्ध है। ९. **वामदेव्यम्**=सुन्दर दिव्य गुणों को उत्पन्न करने में उत्तम **साम**=प्रभु-स्तवन ही **ते तनूः**=तेरा शरीर है। निरन्तर प्रभु-स्तवन करता हुआ तू ईश्वर के गुणों को धारण करता है और इस प्रकार तेरे जीवन की शक्तियों का विस्तार होता है। १०. **यज्ञायज्ञियम्**=(यज्ञ, सङ्गतीकरण, अयज्ञ=पृथक्करण) उत्तम गुणों से मेल, दुर्गुणों का पार्थक्य ही **पुच्छम्**=दुर्गुणरूप दंशों का निवारण करनेवाली पूँछ है। ११. **धिष्ण्याः**=यज्ञाग्नि के स्थान ही **शफाः**=शान्ति प्राप्त करानेवाले हैं (शंफणायन्ति), अर्थात् निरन्तर यज्ञादि करता हुआ अशान्ति के कारणभूत रोगों को अपने से दूर रखता है। १२. इस प्रकार तू सचमुच **सुपर्णः असि**=उत्तमता से अपना रक्षण करनेवाला है और **गरुत्मान्**=ऊँचे—महान् लक्ष्यवाला है (गुरुं भारं उद्यम्य डयते)। वस्तुतः यह महान् लक्ष्य भी तुझे वासनाओं के आक्रमण से बचाता है। १३. **दिवम् गच्छ**=तू प्रकाश को प्राप्त कर। द्युलोक में—ज्योतिर्मय मस्तिष्क में तेरा वास हो। **स्वः पत**=तू स्वर्गलोक को प्राप्त कर अथवा उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति—प्रभु को प्राप्त कर।

भावार्थ—'श्यावाश्व' सदा पालनादि उत्तम कर्मों में लगा हुआ विशाल हृदयवाला बनकर ज्योति को प्राप्त करता है और प्रभु के दर्शन कर पाता है।

ऋषिः—श्यावाश्वः। देवता—विष्णुः। छन्दः—भुरिगुत्कृतिः। स्वरः—षड्जः॥

सोऽयमात्मा चतुष्पात् (चार पग)

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा गायत्रं छन्दऽआरोह पृथिवीमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽस्यभिमातिहा त्रैष्टुभं छन्दऽआरोहान्तरिक्षमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽस्यरातीयतो हन्ता जागतं छन्दऽआरोह दिवमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽसि शत्रूयतो हन्ताऽऽनुष्टुभं छन्दऽआरोह दिशोऽनु विक्रमस्व ॥५॥

१. श्यावाश्व के लिए ही कहते हैं कि तू **विष्णोः**=(यज्ञो वै विष्णुः) यज्ञ के **क्रमः असि**=पराक्रमवाला प्रसिद्ध है। तू यज्ञिय पगों को रखनेवाला है। **सपत्नहा**=शरीर में अपना पतित्व=स्वामित्व स्थापित करने की इच्छावाले इन सपत्नभूत रोगों का नाश करनेवाला है। **गायत्रं छन्दः आरोह**=प्राणरक्षा की इच्छा पर तू आरोहण कर, अर्थात् तुझमें प्राणशक्ति की रक्षा की प्रबल इच्छा हो। इस इच्छा को लिये हुए तू **पृथिवीम् अनु**=इस पार्थिव शरीर का ध्यान करके **विक्रमस्व**=विक्रमशील हो। तेरा पार्थिव शरीर पूर्णतया नीरोग हो। यही वस्तुतः तेरा पहला प्रयत्न होना चाहिए। यही पहला पग है। २. **विष्णोः क्रमः असि**=तू विष्णु के पराक्रमवाला है, विष्णु के समान पग रखनेवाला है। **अभिमातिहा**=तू अभिमान को नष्ट करनेवाला है। **त्रैष्टुभं छन्दः आरोह**='काम, क्रोध व लोभ' इन तीन को रोकने (त्रि+ष्टुभ्=stop) की प्रबल कामना पर तू आरूढ़ हो। **अन्तरिक्षम् अनु**=हृदयान्तरिक्ष का लक्ष्य करके **विक्रमस्व**=तू विशेष उद्योग करनेवाला हो। तूने इस हृदयान्तरिक्ष को काम, क्रोध व लोभ की वासना से शून्य बनाना है। ३. **विष्णोः क्रमः असि**=तू यज्ञ के पराक्रमवाला है। **अरातीयतः**=(रातिर्दानं, तस्याभावं आत्मन इच्छति इति—म०) दानाभाव की इच्छा का—न देने की भावना का **हन्ता**=तू नष्ट करनेवाला है। अतिशयेन दान की वृत्ति अपना कर तू **जागतं छन्दः आरोह**=जगती के हित की इच्छा पर आरोहण कर। तुझमें लोक-कल्याण की प्रबल भावना हो। **दिवम् अनु**=द्युलोक का लक्ष्य करके अथवा मस्तिष्क का ध्यान करके **विक्रमस्व**=तू पराक्रम करनेवाला हो, अर्थात् तू ज्ञान को खूब प्राप्त करनेवाला बन। ४. **विष्णोः क्रमः असि**=तू यज्ञ के पराक्रमवाला है **शत्रूयतः**=(अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्) शत्रुवत् आचरण करनेवाले मन का यह **हन्ता**=नष्ट करनेवाला होता है, अर्थात् यह मन को वश में करनेवाला है। **अनुष्टुभं छन्दः आरोह**=अनुक्षण प्रभु-स्तवन की भावना पर तू आरूढ़ हो, अर्थात् सोते-जागते सदा प्रभु का स्मरण कर और **दिशः अनु विक्रमस्व**=उस प्रभु के निर्देशों के अनुसार तू विक्रम करनेवाला हो। प्रभु के निर्देशों को अपने जीवन में अनूदित कर।

भावार्थ—जीव के चार पग हैं—१. रोगों को नष्ट करना। २. अभिमान को नष्ट करना। ३. अदान की भावना को नष्ट करना। ४. और शत्रुता में स्थित मन को निरुद्ध करना। शरीर को ठीक करना, मन को ठीक करना, मस्तिष्क को ठीक करना और अन्तःस्थित प्रभु के निर्देशों को सुनना।

ऋषिः—वत्सप्रीः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

व्यापक प्रकाश

अक्रन्ददग्नि स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्विरुधः समञ्जन्।
सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धोऽअख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः ॥६॥

गत मन्त्र के अनुसार चार पगों को रखकर जो भी प्रभु का दर्शन करता है, वह 'वत्सप्रीः'—प्रभु का प्रिय व अपने कर्मों से प्रभु को प्रीणित करनेवाला बनता है। यह अनुभव करता है कि १. **अग्निः**=अग्रेणी प्रभु **अक्रन्दत्**=उच्च स्वर से वेदज्ञान का उच्चारण करते हैं। वे प्रभु **स्तनयन् इव द्यौः**=(द्यौशब्देनात्र पर्जन्य उक्तः—म०) गर्जना करते हुए मेघ के समान हैं। हम उस गर्जन को न सुनें तो इससे अधिक बधिरता क्या हो सकती है? २. हम उस गर्जना को सुनते हैं तो वे प्रभु **क्षामा**=इस सारी पृथिवी को **रेरिहत्**=अत्यन्त आस्वादमय बना देते हैं। वेदवाणी को सुनकर हम तदनुसार अपना जीवन बनाते हैं तो हमारे जीवन आनन्दमय बन जाते हैं। ३. वे प्रभु हमारे जीवनों में **वीरुधः**=(वि+रुह=प्रादुर्भाव) विविध विकासों को **समञ्जन्**=व्यक्त करते हैं, अर्थात् प्रभु की वाणी को सुनकर तदनुसार जीवन बनाने से हमारे जीवनों में विशिष्ट शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। ४. **जज्ञानः**=हमारे हृदयों में प्रकट हुए वे प्रभु **सद्यः**=शीघ्र ही **इद्धः**=ज्ञान से दीप्त हुए **हि ईम्**=निश्चय से **विअख्यत्**=विशिष्टरूप से जीवन को प्रकाशमय करते हैं। ५. वे प्रभु **रोदसी अन्तः**=द्युलोक व पृथिवीलोक के अन्तर्भाग को **भानुना**=प्रकाश से **आभाति**=प्रकाशित कर देते हैं, अर्थात् प्रभु-दर्शन होने पर सर्वत्र प्रकाश-ही-प्रकाश हो जाता है।

भावार्थ—१. हृदयस्थ प्रभु निरन्तर प्रेरणा दे रहे हैं। यदि हम उस प्रेरणा को सुनें तो हमारा जीवन आनन्दमय हो जाता है। २. जीवन में सब शक्तियों का विकास होता है। ३. सारा जीवन प्रकाशमय हो जाता है। ४. सारा संसार भी प्रकाशमय व उलझनों से रहित प्रतीत होता है।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

अभ्यावर्ती प्रभु

अग्नेऽभ्यावर्त्तिन्नभि मा निवर्त्तस्वायुषा वर्चसा प्रजया धनेन।
सन्या मेधया रय्या पोषेण॥७॥

गत मन्त्र के अनुसार प्रभु-दर्शन करनेवाला 'वत्सप्री' कहता है कि १. **अग्ने**=हे आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **अभ्यावर्त्तिन्**=आभिमुख्येन प्राप्त होनेवाले प्रभो! **मा अभिनिवर्त्तस्व**=आप मेरी ओर आइए। २. आप मुझे प्राप्त होओ (क) **आयुषा**=आयु के साथ, अर्थात् सबसे प्रथम आप मुझे दीर्घ जीवन प्राप्त कराइए। (ख) **वर्चसा**=वर्चस् के साथ। मुझे वह वीर्यशक्ति प्राप्त कराइए जो मेरे जीवन में से सब रोगों को समाप्त कर देती है। (ग) **प्रजया**=प्रजा के साथ। आपकी कृपा से मेरी सन्तान उत्तम हो। (घ) **धनेन**=धन के साथ। जीवन सञ्चालन के लिए आवश्यक धन का मैं अर्जन कर सकूँ। (ङ) **सन्या मेधया**=संविभागवाली धारणावती बुद्धि से, अर्थात् मुझे वह मेधा प्राप्त हो जो मुझे सदा सबके साथ संविभागपूर्वक धनोपभोग की प्रेरणा देती है। (घ) **रय्या पोषेण**=पोषक धन से, अर्थात् मैं इतना धन अवश्य प्राप्त करूँ जितना कि मेरे परिवार के पोषण के लिए आवश्यक हो अथवा मैं उस धन को प्राप्त करूँ जो मेरा पोषण करे न कि विषयासक्त करके क्षीणशक्ति बना दे। अथवा मैं धन को दान देनेवाला बनूँ जिससे वह धन सभी का पोषण करनेवाला हो। ३. यह त्याग की वृत्ति वस्तुतः मुझे प्रभु का प्रिय बनाएगी और मेरा 'वत्सप्री' नाम सार्थक होगा।

भावार्थ—प्रभो! मैं आपको प्राप्त करूँ और आपकी प्राप्ति से मुझे दीर्घ जीवन, प्राणशक्ति, उत्तम सन्तान, धन, संविभागवाली बुद्धि व पोषक धन प्राप्त हो।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

शत आवर्तन

अग्नेऽअङ्गिरः शतं ते सन्त्वावृतः सहस्रं तऽउपावृतः।
अधा पोषस्य पोषेण पुनर्नो नष्टमाकृधि पुनर्नो रयिमाकृधि॥८॥

१. हे **अग्ने**=अग्रेणी व **अङ्गिरः**=अङ्ग-अङ्ग में रस का सञ्चार करनेवाले प्रभो! **ते**=आपके **शतम्**=सैकड़ों **आवृतः सन्तु**:=आवर्तन हों। आप जीवन के एक-एक वर्ष में हमें प्राप्त होनेवाले हों। २. **ते**=आपके **सहस्रम्**=हज़ारों **उपावृतः**=उपावर्तन हों, अर्थात् मैं सदा अपकी समीपता को अनुभव करूँ। ३. **अध**=अब आपकी इस समीपता के परिणामस्वरूप **पोषस्य पोषेण**=सर्वोत्तम पोषण से **पुनः**=फिर **नः**=हमारी **नष्टम्**=नष्ट हुई शक्ति को **आकृधि**=(आगमय) सब अङ्गों में सर्वतः प्राप्त कराइए। जब जीव प्रभु को विस्मृत करके प्रकृति में फँस जाता है तब उसकी सारी शक्ति विनष्टप्राय हो जाती है। प्रभु की ओर झुकाव होते ही वे शक्ति का अनुभव करते हैं, जैसेकि माता की गोद में स्थित बालक शक्ति का अनुभव करता है। ४. **पुनः**=फिर **नः**=हमें **रयिम्**=धन **आकृधि**=प्राप्त कराइए। प्रभु ही वस्तुतः सब धनों को प्राप्त कराते हैं, जिसका दान देते हुए हम यशस्वी भी बनते हैं और पोषण भी प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—जीवन के एक-एक वर्ष में, जीवन के एक-एक क्षण में प्रभु की समीपता को अनुभव करते हुए हम अपनी विनष्ट शक्ति को फिर से प्राप्त करें और धन प्राप्त करके सचमुच रयीश बनें।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

पाप-निर्वतन

पुनरूर्जा निवर्त्तस्व पुनरग्नऽइषायुषा। पुनर्नः पाह्यꣳहसः॥९॥

१. हे **अग्ने**=हमें आगे ले-चलनेवाले प्रभो! आपके आवर्तनों से—उपासन व ध्यान से आप हमें **पुनः** =फिर **ऊर्जा**=बल और प्राणशक्ति के साथ **निवर्त्तस्व**=प्राप्त होओ। आपके सतत स्मरण से हम शक्ति का अनुभव करें। २. **पुनः इषा**=फिर-फिर हम आपकी प्रेरणा को सुननेवाले बने। ३. आपकी प्रेरणा को सुनते हुए हम **आयुषा**=उत्कृष्ट जीवन से युक्त हों, ४. परन्तु हे प्रभो! अपनी अल्पता के कारण हम बारम्बार पाप की ओर झुक जाते हैं, समझते हुए भी कई बार उस पाप से रुक नहीं पाते। हमारी आपसे यह आराधना है कि **नः**=हमें **पुनः**=फिर-फिर **अंहसः**=इन कष्टों के कारणभूत पापों से **पाहि**=सुरक्षित कीजिए। अपनी निरन्तर प्रेरणा से हमें सतत सावधान करते रहिए।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हम बल व प्राणशक्ति का लाभ करें। उत्कृष्ट प्रेरणा को प्राप्त कर ऊँचे जीवनवाले बनें। पापों से बचे रहें।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

धारक-धन

सह रय्या निवर्त्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया। विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि॥१०॥

१. हे **अग्ने**=प्रकाशमय प्रभो! **रय्या सह**=दान देने योग्य धन के साथ **निवर्त्तस्व**=हमें निश्चय से प्राप्त होओ। २. **विश्वतस्परि**=सर्वतः सबकी रक्षा करनेवाली तथा **विश्वप्स्न्या**

(विश्वैः प्सायते भक्ष्यते विश्वप्स्नी)=सर्वजनों से उपभोग्य **धारया**=धन की धारा से अथवा धारण करनेवाले धन से **पिन्वस्व**=सिक्त कीजिए। निरन्तर धनदान से हमें फिर-फिर बढ़ाइए, जिससे हम सभी का धारण करनेवाले बन सकें।

भावार्थ—हम उस धन को प्राप्त करें जिसका हम दान देनेवाले बनें और जिससे हम सभी का धारण करनेवाले बनें। सबके धारण की यह भावना ही हमें 'वत्सप्री' बनाएगी। प्रभु हमारे धारणात्मक कर्म से ही प्रीणित होंगे।

ऋषिः—ध्रुवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

जन-प्रिय राजा

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत्॥११॥

१. प्रजाओं का जीवन बहुत कुछ राजा के जीवन पर निर्भर है। 'यथा राजा तथा प्रजा' राजा का जीवन जहाँ प्रजा के जीवन को प्रभावित करता है, वहाँ राष्ट्र में राजा से प्रणीत राज्य-व्यवस्था भी लोगों के जीवनोत्कर्ष की साधिका होती है, अतः प्रस्तुत मन्त्र राजा के चुनाव का प्रतिपादन करता है—२. पुरोहित चुने गये राजा को अभिषिक्त करता हुआ कहता है कि **त्वा**=तुझे **अन्तः**=प्रजा के बीच में से ही **आहार्षम्**=लाया हूँ। इससे स्पष्ट है कि राजा प्रजा में से ही चुना जाता है। ३. **अन्तः अभूः**=तू प्रजा के बीच में ही हो। राजा को यथासम्भव राष्ट्र में ही रहना चाहिए, वह देश-विदेशों की सैर ही न करता रहे। ४. तू **ध्रुवः तिष्ठ**=ध्रुव होकर ठहर। राजा को अपने कर्त्तव्य से न डिगनेवाला होना चाहिए। ध्रुव के समान राजा को अपने स्थान पर ध्रुवता से रहना है। स्पष्ट है कि राजा चुना जाता है और फिर यह ध्रुव होकर रहता है। वैदिक पद्धति में चुनाव बार-बार नहीं होता। ५. **अविचाचलिः**=तू अचञ्चल वृत्ति का हो। राजा झट क्रोधादि में आ जानेवाला न हो। ६. **त्वा**=तुझे **सर्वाः विशः**=सब प्रजाएँ **वाञ्छन्तु**=चाहें। सम्भवतः राजा के चुनाव में ऐकमत्य आवश्यक-सा प्रतीत होता है। अथवा राजा को राज्य-व्यवस्था ऐसी उत्तमता से करनी चाहिए कि वह सभी का प्रिय बना रहे। ७. पुरोहित राजा को चेतावनी देता हुआ कहता है कि **त्वत्**=तुझसे **राष्टम्**=राष्ट्र **मा अधिभ्रशत्**=नष्ट न हो जाए। तुझे राष्ट्र से पृथक् न करना पड़े। राजा यदि ऐसे कार्य करने लगे जो राष्ट्र के लिए अहितकर हों तो राजा को गद्दी से उतार दिया जाता है। आदर्श राजा 'ध्रुव' ही होता है, वह गद्दी से हिलाया नहीं जाता।

भावार्थ—राजा चुना जाकर ध्रुवता से राज्य-कार्यों को करनेवाला हो। उसका कोई भी कार्य राज्य की अवनति का कारण न बने। उसके अहितकर कार्य ही उसे गद्दी से गिरानेवाले होंगे।

ऋषिः—शुनःशेपः। **देवता**—वरुणः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

बन्धन-त्रयी

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमꣳश्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसोऽअदितये स्याम॥१२॥

उत्तम राज्य में प्रजाएँ अपने जीवनों को उत्तम बना पाती हैं। वे सब व्यसनों के बन्धनों से ऊपर होती हैं और इस प्रकार अपने जीवनों को सुखमय बना सकने के कारण

'शुनःशेप'=(सुख का निर्माण करनेवाली) होती हैं। इनकी प्रार्थना का स्वरूप यह है कि—१. हे **वरुण**=व्रतों के बन्धनों में बाँधकर हमारे जीवनों को श्रेष्ठ बनानेवाले प्रभो! **उत्तमं पाशम् उत्**=हमारे उत्तम पाश को हमसे बाहर कीजिए (उत्=out)। सत्त्व का बन्धन ही सबसे उत्कृष्ट बन्धन है। 'सत्त्वं सुखे सञ्जयति' यह हमें ज्ञान-प्राप्ति के सुख में निमग्न कर देता है। कई बार सत्त्वप्रधान व्यक्ति योगमार्ग पर चलते हुए समाधि के आनन्द में मग्न हो जाते हैं। उन्हें अपने चारों ओर विद्यमान दुःख से कराहती हुई प्रजा का ध्यान नहीं रहता। यह समाधि भी उनका बन्धन-सा बन जाती है। हे वरुण! आप हमें इससे भी ऊपर उठाइए। ज्ञानप्रधान जीवन बड़ा सुन्दर जीवन है, परन्तु जब हम ज्ञान को ही प्राथमिकता देने लगते हैं तो लोककल्याण गौण वस्तु हो जाती है, अतः प्रार्थना है कि हमें इस बन्धन से भी ऊपर उठाइए। २. हे वरुण! **अस्मत्**=हमसे **अधमम्**=निकृष्ट पाश को **अवश्रथाय**=दूर करके (अव away) ढीला कर दीजिए। सबसे निचला पाश तमोगुण का पाश है। यह हमें प्रमाद, आलस्य व निद्रा के बन्धनों से बाँधता है। वरुण की कृपा से हम 'प्रमाद, आलस्य व निद्रा' से ऊपर उठें। ३. हे वरुण! आप कृपा करके **मध्यमम्**=रजोगुणात्मक मध्यम बन्धन को भी **विश्रथाय**=ढीला कर दीजिए। यह रजोगुण का बन्धन हमें सदा कर्म में बाँधे रखता है। हम एक क्षण भी शान्त होकर नहीं बैठ पाते। प्रभु-कृपा से यह बन्धन भी ढीला हो जाए। ४. **अध**=अब—तीनों बन्धनों को ढीला करके **वयम्**=हम हे **आदित्य**=सूर्य! **तव व्रते**=तेरे व्रत में, अर्थात् तेरी भाँति ही निर्लेपता से नियमित गति करते हुए **अनागसः** =निष्पाप होकर **अदितये**=अखण्डन के लिए, पूर्ण स्वास्थ्य के लिए और अन्त में मोक्ष के लिए **स्याम**=हों। सूर्य की गति नियमित है, उसमें किसी प्रकार की आसक्ति नहीं। सर्वत्र समभाव से वह प्रकाश व प्राणशक्ति देता हुआ आगे बढ़ता चलता है। हम भी इसी प्रकार बढ़ते चलें, यही निष्पापता का मार्ग है और यही मार्ग इहलोक में पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त कराता है तो परलोक में मोक्ष। 'अदिति' शब्द के दोनों ही अर्थ हैं, अतः यह आदित्य का व्रत हमारा उत्तम लोककल्याण करता है और हम सचमुच 'शुनःशेप' होते हैं।

भावार्थ—हम तीनों बन्धनों से ऊपर उठें। आदित्य के व्रत में चलें और अदिति को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—त्रितः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

त्रित का जीवन

अग्रे॑ बृ॒हन्नु॒षसा॑मू॒र्ध्वोऽअ॑स्थान्निर्जग॒न्वान् तम॑सो॒ ज्योति॒षागा॑त्।
अ॒ग्निर्भा॒नुना॒ रुश॑ता॒ स्वङ्ङ॒आ जा॒तो विश्वा॒ सद्मा॒न्यप्राः॥१३॥

१. गत मन्त्र के अनुसार तीनों बन्धनों को तैरकर अब यह 'त्रित' (त्रीन् तरति) बना है। इसका जीवन ऐसा है—(२) यह **उषसां बृहत् अग्रे**=उषाकाल के बहुत पहले ही **ऊर्ध्वः अस्थात्**=उठ खड़ा होता है। नींद को छोड़कर, बिस्तरे को त्यागकर यह अपने कार्यक्रम में प्रवृत्त होने लगता है। ३. **निर्जगन्वान्**=यह घर से बाहर भ्रमण के लिए निकल जाता है। आवश्यक कृत्यों से निपटकर यह ४. **तमसः**=अन्धकार से ऊपर उठकर **ज्योतिषा अगात्**=ज्योति के साथ सङ्गत होता है। स्वाध्याय करता हुआ अपने जीवन को प्रकाशमय बनाता है। ५. **अग्निः**=यह प्रगतिशील होता है। ६. **रुशता भानुना**=चमकती हुई दीप्ति से (सूर्यसम आभा से) युक्त होता है। ७. **स्वङ्गः**=इसका एक-एक अङ्ग सुन्दर होता है। ८.

आजातः=यह सब दिशाओं में विकासवाला होता है—शरीर, मन व बुद्धि सभी की उन्नति करनेवाला होता है। ९. अपने व्यावहारिक जीवन में यह **विश्वानि सद्मानि**=सब घरों को **आ अप्राः**=पूरित करनेवाला होता है, अर्थात् यह व्रित केवल अपने जीवन को सुखी बनाकर सन्तुष्ट नहीं हो जाता, अपितु सभी के कष्टों को दूर करता है। सभी के घरों में जाता है, उनके कष्ट में सहायक होता है, उनके दुःख को दूर करने में ही इसे शान्ति अनुभव होती है।

भावार्थ—'प्रातः उठना, घूमने जाना, स्वाध्याय, उन्नति, देदीप्यमान ज्ञान, सुन्दर अङ्ग, सर्वतोमुखी विकास, औरों के घरों को भी अपना घर समझना' यह व्रित के जीवन की मुख्य बातें हैं।

ऋषिः—व्रितः। **देवता**—जीवेश्वरौ। **छन्दः**—भुरिग्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

प्रभु व जीव

हꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजाऽऋतजाऽअद्रिजाऽऋतं बृहत्॥१४॥

१. वे प्रभु **हंसः**=(हन्ति पाप्मानं) पाप को नष्ट करते हैं। **शुचिषत्**=पवित्र हृदय में निवास करनेवाले हैं। २. **वसुः**=सबको बसानेवाले हैं **अन्तरिक्षसत्**=मध्यममार्ग में चलनेवाले में प्रभु का निवास होता है। ३. **होता**=वे प्रभु सब-कुछ देनेवाले हैं। **वेदिषत्**=यज्ञमय जीवनवाले जीव में उस प्रभु की स्थिति है। ४. **अतिथिः**=वे प्रभु निरन्तर प्राप्त होनेवाले हैं, वे प्रभु **दुरोणसत्**=(दुर्+ओण=अपनयन) बुराइयों को दूर करनेवालों में आसीन होते हैं। ५. **नृषत्**=नरों में, आगे बढ़नेवालों में आसीन होते है। ६. **वरसत्**=वे प्रभु श्रेष्ठ व्यक्तियों में निवासवाले होते हैं। ७. **ऋतसत्**=जिनका जीवन नियमित (regular) है उनमें प्रभु का वास होता है। ८. **व्योमसत्**=(वी ओम्) गतिशीलता के कारण अपना रक्षण करनेवालों में वे प्रभु रहते हैं। ९. **अब्जाः**=जलों में उस प्रभु की महिमा प्रकट होती है। १०. **गोजा**=इस पृथिवी में वे प्रभु प्रकट होते हैं। मीलों फैले हुए रेगिस्तानों में उस प्रभु की महिमा दिखती ही है। ११. **ऋतजा**=वे प्रभु ऋत में, सूर्य-चन्द्रादि सभी पिण्डों की नियमित गति में दिखते हैं। १२. **अद्रिजा**=प्रभु की महिमा पर्वतों में प्रकट होती है—हिमाच्छादित पर्वत उसकी महिमा का गायन करते हैं। १३. **ऋतम्**=वे प्रभु स्वयं ऋत हैं, सत्यस्वरूप हैं। १४. **बृहत्**=सदा वर्धमान हैं अथवा **ऋतं बृहत्**=वे प्रभु पूर्ण सत्य हैं (Absolute truth)।

भावार्थ—'व्रित' हंस—पापनाशक प्रभु का स्मरण करता है और अपने जीवन को पवित्र बनाता हुआ अन्ततः पूर्ण सत्य बनने का प्रयत्न करता है।

ऋषिः—व्रितः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

माता की गोद में

सीद त्वं मातुरस्याऽउपस्थे विश्वान्यग्ने वयुनानि विद्वान्।
मैनां तपसा मार्चिषाऽभिशोचीरन्तरस्याꣳशुक्रज्योतिर्विभाहि॥१५॥

१. प्रभु व्रित से कहते हैं—**त्वम्**=तू **अस्याः**=इस **मातुः**=वेदमाता—मुझसे तेरे लिए प्रस्तुत की गई वेदवाणी की **उपस्थे**=गोद में **सीद**=बैठ। वेदवाणी की गोद में बैठना, अर्थात् तदनुसार अपना आचरण बनाना तेरा ध्येय हो। २. इसकी गोद में बैठकर हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **विश्वानि वयुनानि**=सब प्रज्ञानों को **विद्वान्**=जाननेवाला हो। यह वेदवाणी सब

सत्य विद्याओं का भण्डार है, अतः इसकी उपासना तुझे सब ज्ञानों को प्राप्त कराएगी ही। ३. **एनाम्**=इसे **तपसा**=तपस्वी जीवन से तथा **अर्चिषा**=ज्ञान की ज्योतियों से **मा अभिशोची**=मत सन्तप्त कर, अर्थात् तू इतना तपस्वी व ज्ञानी बन कि यह वेदमाता सदा तुझसे प्रसन्न रहे। **'बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति'**=अल्पश्रुत व्यक्ति से वेद भयभीत होता है कि यह मेरा ग़लत अर्थ न कर दे, अतः तू बहुश्रुत व तपस्वी बनना, जिससे तू वेदमाता के ठीक स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाला हो सके। ४. **अस्याम् अन्तः**=इस वेदवाणी के अन्दर रहता हुआ **शुक्रज्योतिः**=(शुक् गतौ) गतिमय ज्ञानवाला तू **विभाहि**=विशेषरूप से दीप्त हो। तू वेदज्ञान प्राप्त कर और उसके अनुसार क्रियाशील हो। तू मस्तिष्क में इस वेदवाणी का विचार कर—तेरी वाणी से इसी का उच्चारण हो और क्रिया में इसी का आचरण हो। ऐसा होने पर ही तेरी विशिष्ट शोभा होगी। तू वेदमाता का सच्चा पुत्र होगा।

भावार्थ—मेरा जीवन वेदमय हो। वेदमाता का मैं सुपुत्र बनूँ। उसी के गोद में मेरा पालन व पोषण हो। मैं अपनी तपस्या व ज्ञान से इसे प्रसन्न करनेवाला होऊँ।

ऋषिः—त्रितः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

दीप्ति-यज्ञ-नीरोगता-धन=कल्याण

अन्तरग्ने रुचा त्वमुखायाः सदने स्वे।
तस्यास्त्वꣳहरसा तपञ्जातवेदः शिवो भव॥१६॥

१. हे **अग्ने**=उन्नतिशील त्रित! तू **अन्तः**=अपने हृदयाकाश में **रुचा**=ज्ञान की दीप्ति से युक्त हो, वेद के स्वाध्याय से तेरा अन्तःकरण प्रकाशमय हो। २. तू **स्वे**=अपने **उखायाः**=वेदि पर—यज्ञाग्नि के स्थानवाले **सदने**=घर में आसीन हो। तू सदा अपने घर में यज्ञों को करनेवाला हो। तेरे घर में यह यज्ञाग्नि कभी बुझे नहीं। ३. **त्वम्**=तू **तस्याः**=उस यज्ञाग्नि के **हरसा**=रोग-हरणशक्ति से **तपन्**=दीप्त हो, यह यज्ञाग्नि तुझे नीरोग बनाये और तू स्वास्थ्य की दीप्ति से चमकनेवाला हो। ४. **जातवेदः**=(जातं वेदो यस्य, वेदस्=धन) गृहस्थ के पालन के लिए तू आवश्यक धनवाला हो और **शिवः भव**=इस प्रकार तू कल्याणमय जीवनवाला हो। गरीबी भी एक पाप है व अकल्याण का कारण है।

भावार्थ—हे प्रभो! मैं ज्ञान, यज्ञ, स्वास्थ्य व धन प्राप्त करके कल्याणरूप बनूँ।

ऋषिः—त्रितः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

शिव

शिवो भूत्वा मह्यमग्नेऽअथो सीद शिवस्त्वम्।
शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहासदः॥१७॥

१. प्रभु त्रित से कहते हैं हे **अग्ने**=उन्नतिशील त्रित (त्रीन् तरति=तीनों बन्धनों को तैर जानेवाले) **शिवः भूत्वा**=सबके लिए कल्याणकर होकर **शिवः**=कल्याणस्वरूप **त्वम्**=तू **अथ**=अब **उ**=निश्चय से **मह्यम्**=मेरे लिए **सीद**=स्थित हो। इस अर्थ में निम्न बातें स्पष्ट हैं—(क) औरों के कल्याण करने से अपना कल्याण होता है। (ख) औरों का कल्याण करके ही प्रभु की उपासना होती है। 'सर्वभूतहिते रतः' पुरुष ही तो प्रभु का भक्त है। २. **सर्वाः दिशः**=सब दिशाओं को, सब दिशाओं में स्थित प्राणियों को **शिवाः कृत्वा**=कल्याणयुक्त करके, अर्थात् उनके दुःखों को दूर करके **इह**=इस मानव-जीवन में तू **स्वं योनिम् इह**

आसदः=अपने घर में आसीन हो। हमारा वास्तविक घर ब्रह्मलोक है, अतः अर्थ यह हुआ कि तू मानवहित करके ब्रह्मलोक को प्राप्त करनेवाला बन। अथवा 'योनि' शब्द का अर्थ सामान्य घर लें तो अर्थ होगा कि सब प्राणियों का कल्याण किये बिना तू घर में मौज से न बैठ। सबका भला करके ही घर में आ।

भावार्थ—त्रित सबका भला करता हुआ 'शिव' बनने का प्रयत्न करता है। औरों को शिव बनाये बिना हम शिव नहीं बन सकते।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

द्युलोक में, शरीर में, जलों में

दिवस्परि प्रथमं जज्ञेऽअग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः।
तृतीयमप्सु नृमणाऽअजस्त्रमिन्धानऽएनं जरते स्वाधीः॥१८॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु का उपदेश सुनकर सबका कल्याण करता हुआ 'त्रित' प्रभु का प्रिय 'वत्स' बनता है और प्रभु को प्रीणित करने के कारण 'प्रीः' कहलाता है, अतः यह 'वत्सप्रीः' निम्न शब्दों में प्रभु की उपासना करता है—२. **अग्निः**=अग्रेणी प्रभु **प्रथमम्**=सबसे पहले **दिवः**=आकाश से **परिजज्ञे**=प्रादुर्भूत होते हैं। द्युलोक में प्रकट होनेवाले ज्योतिर्मय पिण्ड प्रभु की महिमा का प्रतिपादन करते हैं। अथर्ववेद के शब्दों में 'अभ्यनूषत व्राः' आकाश को आच्छादित करनेवाले ये तारे उस प्रभु की महिमा का स्तवन कर रहे हैं। ३. वह **जातवेदाः**=(जाते=विद्यते) प्रत्येक पदार्थ में वर्त्तमान प्रभु **द्वितीयम्**=दूसरे स्थान में **अस्मत्**=हमसे **परि** (जज्ञे)=प्रकट होते हैं। यह प्रभु से दिया गया हमारा शरीर अपनी विशिष्ट रचना से प्रभु की महिमा को प्रकट कर रहा है। ४. **तृतीयम्**=तीसरे स्थान में **अप्सु**=जलों में, समुद्रों में, उस प्रभु की महिमा दिखती है। जल जिस प्रकार बना, वह सब कितना अद्भुत है! 'समुद्र का यह अनन्त पानी किस रसायनशाला में तैयार हुआ होगा! एवं, इन जलों में प्रभु की महिमा प्रकट हो रही है। ५. **नृमणाः**=(नृषु मनो यस्य)=ये प्रभु सदा नरों का हित करनेवाले हैं। जीवहित के उद्देश्य से ही तो संसार का निर्माण हुआ है। ६. **एनम्**=इस परमात्मा का **स्वाधीः**=उत्तम ध्यान करनेवाला भक्त **अजस्त्रम्**=निरन्तर **इन्धानः**=अपने को दीप्त करता हुआ **जरते**=उसका स्तवन करता है। प्रभु का स्तवन वही कर पाता है जो प्रतिदिन उस परमात्मा के योग का अभ्यास करता है। अभ्यास के द्वारा चित्तवृत्तिनिरोध करके **'स्वाधीः'**=उत्तम ध्यानवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभु की महिमा द्युलोक के तारों में, शरीर की रचना में तथा जलों व समुद्रों में सुव्यक्त है। उस प्रभु के ध्यान का प्रतिदिन अभ्यास करना आवश्यक है।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वह 'उत्स'

विद्मा तेऽअग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्मा ते धाम विभृता पुरुत्रा।
विद्मा ते नाम परमं गुहा यद्विद्मा तमुत्सं यतऽआजगन्थ॥१९॥

१. हे **अग्ने**=सबके प्रकाशक प्रभो! **ते**=आपके **त्रेधा**=तीन प्रकार से रखे गये **त्रयाणि**=द्युलोक में सूर्यरूप को, अन्तरिक्षलोक में विद्युद्रूप को तथा पृथिवी पर अग्निरूप को **विद्म**=हम जानें। सूर्य, विद्युत् व अग्नि में उस प्रभु की दीप्ति ही तो दीप्त हो रही है। **'तस्य**

भासा सर्वमिदं विभाति'=उसकी दीप्ति से ही तो यह सब दीप्त होता है। २. **ते**=तेरे **पुरुत्रा**=बहुत स्थानों में **विभृता**=रक्खे गये **धाम**=तेज को **विद्म**=हम जानें। जहाँ-जहाँ पर कुछ भी विभूति दिखती है वह सब उस प्रभु के तेज के अंश से ही है। प्रभु का ही तेज सर्वत्र रक्खा हुआ है। ३. हे प्रभो! **ते**=तेरे **परमं नाम**=उत्कृष्ट यश को, **गुहा यत्**=जो बुद्धिरूपी गुहा में निहित है उसे, **विद्म**=हम जानें। जब मनुष्य की बुद्धि प्रभु की महिमा का विचार करती है तब प्रभु के अनन्त यश को जानकर उसे नतमस्तक कर देती है। ४. हे प्रभो! योगमार्ग के द्वारा हम **तम्**=उस **उत्सम्**=ज्ञान के स्वतः प्रवाह को **विद्म**=प्राप्त करें, **यतः**=जिससे **आजगन्थ**=आप प्राप्त होते हो। योगाभ्यास से मनुष्य उस स्थिति में पहुँचता है जहाँ कि योग के शब्दों में **'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा'**=सत्य का पोषण करनेवाली बुद्धि प्राप्त होती है। इस बुद्धि के प्राप्त होने पर अन्दर से स्वतः ज्ञान का स्रोत उमड़ पड़ता है। उस समय हम प्रभु का दर्शन कर पाते हैं। इस ऋतम्भरा प्रज्ञा से प्रभु की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—हम 'अग्नि, विद्युत् व सूर्य' में प्रभु की दीप्ति को देखें। सर्वत्र उसी के तेज के प्रसार का अनुभव करें। बुद्धि के द्वारा हम प्रभु की कृतियों को देख, उसके यश को जानें और योग द्वारा उस ज्ञान के स्रोत को प्रवाहित कर सकें जो हमें परमात्मा का दर्शन करानेवाला है।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

नृमणा व नृचक्षा

समुद्रे त्वा नृमणाऽअप्स्वन्तर्नृचक्षाऽईधे दिवो अग्नऽऊधन्।
तृतीये त्वा रजसि तस्थिवाꣳसमपामुपस्थे महिषाऽअवर्धन्॥२०॥

१. हे **अग्ने**=प्रकाशस्वरूप प्रभो! **नृमणाः**=(नृषु मनो यस्य) मनुष्यों के हित की कामनावाला **नृचक्षाः** (नॄन् चष्टे)=मनुष्यों का पालन (look after) करनेवाला व्यक्ति **त्वा**=आपको **समुद्रे**=समुद्र में **अप्सु-अन्तः**=जलों में तथा **दिवः ऊधन्**=(द्युलोकस्य महोदके प्रदेशे—उ०)=अन्तरिक्षस्थ मेघों में **ईधे**=समिद्ध करता है, अर्थात् जिस भी मनुष्य का मन स्वार्थ से ऊपर उठ जाता है वह समुद्रों में, जलों में व मेघों में आपकी महिमा का दर्शन कर पाता है। निर्मल मन सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखता है। २. **तृतीये रजसि**=तृतीय लोक में **तस्थिवांसम्**=ठहरे हुए **त्वा**=आपको **अपाम् उपस्थे**=जलों के समीप—नदी-तटों पर **महिषाः**=(मह पूजायाम्) उपासक लोग **अवर्धन्**=बढ़ाते हैं, अर्थात् आपकी महिमा का गायन करते हैं। ३. प्रभु तृतीय लोक में स्थित हैं का अभिप्राय यह है कि (क) प्रभु का दर्शन स्थूल व सूक्ष्म-शरीरों में न होकर कारणशरीर में होता है, जोकि प्राणिमात्र का एक है, अतः हमें स्थूल व सूक्ष्मशरीरों से ऊपर उठकर कारणशरीर में पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए। (ख) अथवा प्रभु का दर्शन इन्द्रियों व इच्छाप्रधान मन से न होकर विवेकवाली बुद्धि से होता है, अतः प्रभु का स्थान इन्द्रियों व मन से परे बुद्धि ही है। (ग) अथवा प्रभु को तृतीय स्थान में स्थित इसलिए भी कहते हैं कि वे ऋग् व यजुः से ऊपर उठकर साममन्त्रों का विषय हैं। (घ) सामान्य बुद्धि प्रभु को पृथिवी व अन्तरिक्ष में स्थित न समझकर उसे द्युलोकस्थ ही समझती है। (ङ) अथवा बाल्यकाल क्रीड़ासक्त होने से प्रभु का उपासक नहीं होता, यौवन भी कुछ विषयासक्ति के कारण प्रभु-स्मरण से दूर रहता है और अन्ततः तीसरे वार्धक्य में मनुष्य प्रभु का स्मरण करनेवाला होता है। ४. मन्त्र में

'समुद्रे अप्सु, दिवः ऊधनि' इन शब्दों का यह भी अर्थ सङ्गत है कि 'प्रसादगुणयुक्त मन में (स+मुद्) सदा क्रियाशील बने रहने में (आपः=कर्माणि) तथा प्रकाश के उषःकाल में (ऊधन्=उषस्–नि०) प्रभु का दर्शन होता है। उत्तरार्ध के 'अपाम् उपस्थे' इन शब्दों का अर्थ यह होगा कि 'कर्मों की गोद में' अर्थात् सदा कार्य करते हुए ही प्रभुदर्शन हो सकता है। प्रभु की उपासना **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'** स्वकर्मपालन से ही होती है।

भावार्थ–हम स्वार्थ से ऊपर उठकर प्रसादयुक्त मन में प्रभु का दर्शन करें। प्रभु–दर्शन के लिए कर्मों में लगे रहना तथा साथ ही ज्ञान के उषःकाल को अपने जीवन में लाना भी आवश्यक है।

ऋषिः–वत्सप्रीः। **देवता**–अग्निः। **छन्दः**–निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**–धैवतः॥

गर्जना करते हुए प्रभु

अक्रन्ददग्नि स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद् वीरुधः समञ्जन्।
सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धोऽअख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः ॥२१॥

१. **अग्निः**=वह अग्रेणी परमात्मा **अक्रन्दत्**=पवित्र हृदयों में वेदवाणी का नाद करता है। **स्तनयन्निव द्यौः**=वह तो मेघ के समान गर्जना कर रहा है, परन्तु दुर्भाग्यवश हम उस शब्द को सुनते नहीं। २. वे प्रभु **क्षामा**=इस पृथिवीस्थ प्राणियों को **रेरिहत्**=आस्वादमय जीवनवाला बनाते हैं। वे **वीरुधः**=विविध शक्तियों के विकास को **समञ्जन्**=व्यक्त करते हैं ३. **जज्ञानः**=प्रकट होते हुए **इद्धः**=ज्ञान–दीप्त वे प्रभु **सद्यः**=शीघ्र **हि ईम्**=निश्चय से **वि अख्यदा**=हमारे जीवन को विशिष्ट प्रकाशमय कर देते हैं। ४. **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **भानुना**=दीप्ति से **अन्तः**=अन्दर **आभाति**=सर्वतः प्रकाशमय कर देते हैं।

भावार्थ–प्रभु की वाणी को सुनने पर जीवन प्रकाशमय हो उठता है, उसमें विविध शक्तियों का विकास होता है। प्रभु का प्रकाश सारे ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है।

ऋषिः–वत्सप्रीः। **देवता**–अग्निः। **छन्दः**–निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**–धैवतः॥

प्रभु-प्रिय (वत्सप्री) का जीवन

श्रीणामुदारो धरुणो रयीणां मनीषाणां प्रार्पणः सोमगोपाः।
वसुः सूनुः सहसोऽअप्सु राजा विभात्यग्रऽउषसामिधानः ॥२२॥

गत मन्त्र के अनुसार प्रभु की वाणी को सुननेवाला अपने जीवन को निम्न प्रकार का बनाता है–१. **श्रीणाम्**=सेवनीय गौ–अश्वादि सम्पदाओं का **उदारः**=(दाता) खूब देनेवाला होता है (उत्कृष्टं परीक्ष्य ऋच्छति ददाति)। यह विचार कर सत्पात्र में देता है। २. **रयीणाम्**=सम्पत्तियों का यह अपने को **धरुणाः** =धारण करनेवाला (trustee) समझता है। ३. **मनीषाणाम्**=बुद्धियों का **प्रार्पणः**=यह प्राप्त करानेवाला होता है। स्वयं ज्ञानी बनकर औरों को ज्ञान देता है। ४. **सोमगोपाः**=यह अपने सोम (वीर्य) की रक्षा करनेवाला होता है। वस्तुतः इस सोम–रक्षा के परिणामस्वरूप ही तो इसमें अन्य सब गुणों का विकास होता है। ५. सोम–रक्षा से नीरोग बनकर **वसुः**=यह उत्तम निवासवाला होता है। **सहसः सूनुः**=बल का यह पुत्र होता है, अर्थात् खूब बलवान्–शक्ति का पुञ्ज बनकर यह शरीर के सब अङ्ग–प्रत्यङ्गों को सुन्दर बना पाता है। ६. **अप्सु**=यह कर्मों के विषय में **राजा**=बड़े व्यवस्थित (regulated) जीवनवाला होता है। सूर्य और चन्द्रमा की भाँति इसके कर्म समय पर सम्पन्न

किये जाते हैं। ७. नियमित जीवनवाला यह **विभाति**=विशेषरूप से दीप्त होता है, क्योंकि इस नियमितता से इसे शारीरिक और मानस स्वास्थ्य प्राप्त होता है। संक्षेप में यह स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मनवाला होता है। ८. **उषसाम् अग्रे**=बड़े सवेरे-सवेरे-उषःकाल के पहले **इधानाः**=यह प्रभु को अपने हृदय में समिद्ध करने का प्रयत्न करता है, अर्थात् प्रभु का ध्यान करता है।

भावार्थ—वत्सप्री के जीवन का गुणाष्टक यह है—दान, ट्रस्टीशिप की भावना, ज्ञान, वीर्यरक्षा, शक्ति व उत्तम निवास, नियमितता, दीप्ति तथा प्रभु-स्मरण।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

विश्वस्य केतुः

विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भऽआ रोदसीऽअपृणाज्जायमानः।
वीडुं चिदद्रिमभिनत् परायञ्जना यदग्निमयजन्त पञ्च॥२३॥

१. यह वत्सप्रीः=प्रभु को अपने कर्मों से प्रीणित करनेवाला व्यक्ति **विश्वस्य**=सबका **केतुः**=(कित निवासे रोगापनयने च) निवास देनेवाला तथा रोगों को दूर करनेवाला—ज्ञान के प्रकाश से सबको नीरोगता का मार्ग दिखानेवाला होता है। २. **भुवनस्य गर्भः**=भुवन का गर्भ बनता है, अर्थात् सारी वसुधा को अपना परिवार समझता है। ३. **जायमानः**=अपना विकास करता हुआ यह रोदसी—द्युलोक व पृथिवीलोक को, अर्थात् सभी को **अपृणात्**=पालित व पूरित करता है (पृ पालनपूरणयोः) अथवा (पृण to delight) सभी के जीवन को आनन्दयुक्त करने का प्रयत्न करता है। ४. **परायन्**=इस संसार से दूर जाने के हेतु से (हेतु में शतृ प्रत्यय है), अर्थात् परमात्मा को प्राप्त करने के हेतु से **वीडुम् अद्रिम् चित्**=दृढ़ पर्वत को भी **अभिनत्**=विदीर्ण कर देता है, अर्थात् लोकहित के कार्यों में लगे होने पर मार्ग में आये बड़े-से-बड़े विघ्न को भी दूर कर देता है। सब विघ्नों को दूर करता हुआ यह आगे बढ़ता चलता है और अन्त में वह समय आता है कि ५. **यत्**=जब **पञ्च जनाः**=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद सभी लोग **अग्निम्**=इस अग्रेणी नेता को **अयजन्त**=पूजते हैं, आदर की दृष्टि से देखते हैं। सामान्यतः संसार में महापुरुषों का जीवनकाल में उतना आदर नहीं होता, परन्तु अन्त में वे लोगों के आदर-पात्र बनते हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवन को प्रकाशमय बनाकर संसार को प्रकाश देनेवाले बनें और सभी को उत्तम निवासवाला व नीरोग बनाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

उशिक पावकः

उशिक् पावको अरतिः सुमेधा मर्त्येष्वग्निरमृतो नि धायि।
इयर्त्ति धूममरुषं भरिभ्रदुच्छुक्रेण शोचिषा द्यामिनक्षन्॥२४॥

१. यह वत्सप्रीः=प्रभु का प्यारा **उशिक्**=(वश्) सबका भला चाहनेवाला होता है, किसी के अमङ्गल की भावना इसमें उत्पन्न नहीं होती। २. **पावकः**=यह सभी के जीवन को पवित्र बनाने का प्रयत्न करता है। ३. **अरतिः**=विषयों में रति व आसक्तिवाला नहीं होता। ४. **सुमेधाः**=उत्तम बुद्धिवाला अथवा उत्तम यज्ञोंवाला (मेध=यज्ञ) होता है ५. **अग्निः**=यह अग्रेणी—उन्नतिशील व्यक्ति **मर्त्येषु**=विषयों के पीछे मरनेवाले लोगों में **अमृतः**=विषयों के

लिए अत्यन्त उत्सुक न होनेवाले के रूप में **निधायि**=रक्खा जाता है। प्रभु ही इस प्रकार के अमृत अग्नि को मर्त्यों में प्राप्त कराया करते हैं। इन्हें ही सामान्य जनता सुधारक के नाम से स्मरण करती है। ६. **इयर्त्ति**=यह व्यक्ति बड़ा गतिशील होता है। ७. **धूमम्**=वासनाओं को कम्पित करनेवाले **अरुषम्**=क्रोध से शून्य ज्ञान को **भरिभ्रत्**=निरन्तर धारण करता हुआ यह **उत्**=वासनाओं से ऊपर उठा हुआ **शुक्रेण शोचिषा**=प्रकाशमय अथवा क्रियायुक्त (शुक् गतौ) ज्ञान की दीप्ति से यह **द्याम्**=सारे द्युलोक को **इनक्षन्**=व्याप्त करता है, अर्थात् यह सर्वत्र ज्ञान का प्रकाश फैलाता है। वस्तुतः लोकहित का इससे अधिक उत्तम मार्ग नहीं है कि ज्ञान को फैलाकर उनके जीवन के मापक को ऊँचा कर दिया जाए। ज्ञान ही मनुष्य को वासनाओं से बचाकर इस योग्य बनाता है कि वह प्रभु के अधिक समीप पहुँच सके।

भावार्थ—हमें सभी के भले की कामना करनी चाहिए, अतः स्वयं विषयों से ऊपर उठकर ज्ञान का प्रसार करनेवाला होना चाहिए।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

दृशानो रुक्म

दृशानो रुक्मऽउर्व्या व्यद्यौद्दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः।
अग्निरमृतोऽअभवद्वयोभिर्यदेनं द्यौरजनयत्सुरेताः॥२५॥

१. **दृशानः**=यह वस्तुतत्त्व को देखता है, बाह्य रूप से ही विचलित नहीं हो जाता—विषयों की आपातरमणीयता इसे उनमें उलझा नहीं देती, क्योंकि यह विषयों के विषयत्व को देखता है। २. **रुक्मः**=न उलझने के कारण ही चमकता है। ३. **उर्व्या व्यद्यौत्**=हृदय की विशालता से यह प्रकाशमय है—उत्तम व्यवहार करनेवाला होता है। ४. **आयुः**=इसका जीवन **दुर्मर्षम्**=वासनाओं से न कुचलने योग्य होता हैं ५. **श्रिये रुचानः**=यह श्री के लिए रुचिवाला होता है, अर्थात् प्रत्येक कार्य को शोभा से करता है ६. **अग्निः**=निरन्तर आगे बढ़नेवाला होता है ७. **वयोभिः**=उत्तम आयुष्यवर्धक अन्नों से **अमृतः अभवत्**=रोगाक्रान्त न होकर अमृत हो जाता है, अकालमृत्यु को प्राप्त नहीं होता। ८. **यत्**=क्योंकि **सुरेताः**=उत्तम रेतस्वाला अर्थात् ब्रह्मचारी **द्यौः**=प्रकाशमय जीवनवाला आचार्य **एनम्**=इसे **अजनयत्**=विकसित करता है—शक्तिमान् बनाता है।

भावार्थ—संसार में हमें तत्त्वदर्शी बनकर विषयों में नहीं उलझना। ज्ञानी, ब्रह्मचारी आचार्यों की कृपा से ही ऐसा जीवन बनता है।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

गुरु का आदर, प्रभु की भक्ति

यस्तेऽअद्य कृणवद्भद्रशोचेऽपूपं देव घृतवन्तमग्ने।
प्र तं नय प्रतरं वस्योऽअच्छाभि सुम्नं देवभक्तं यविष्ठ॥२६॥

१. वेद में पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त होनेवाले ज्ञान को 'ओदन' (भोजन) कहा है, अतः जीव का नाम ही 'पञ्चौदन' कर दिया है। विद्यार्थी के लिए इस ओदन का परिपाक करनेवाला उसका आचार्य है। अथर्ववेद ९।५।३७ में 'पचत पञ्च चौदनान्' इन शब्दों में इन पाँचों ओदनों के परिपाक का निर्देश है। यह ज्ञान का ओदन 'घृतवान्'=मल के क्षरण के

द्वारा दीप्ति प्राप्त करानेवाला है। यह 'अपूप'=न पूयते=न अपवित्र (पूयी विशरणे दुर्गन्धे च) होनेवाला है। इस **घृतवन्तं अपूपम्**=नैर्मल्य व दीप्तिवाले, न मलिन होने देनेवाले ज्ञानरूप अपूप को **हे अग्ने**=प्रगतिशील छात्र! हे **भद्रशोचे**=कल्याणकर ज्ञान की दीप्तवाले! **देव**=ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करनेवाले, अतएव दिव्य गुणोंवाले! जो **ते**=तेरे लिए **अद्य**=आज **कृणवत्**=ज्ञानदान करता है **तं अच्छ**=उसकी ओर **प्रतरम्**=(अतिशयेन प्रकृष्टं) बहुत उत्तम **वस्यः**=(वसीयः—अतिशयेन वसु) निवास के लिए अत्यन्त उपयोगी धन **प्रनय**=प्राप्त करा। **तम्**=उसके लिए उत्तम-से-उत्तम गुरु-दक्षिणा देने का यत्न कर। २. इस प्रकार गुरु-भक्ति की भावनावाला **यविष्ठ**=बुराइयों को अधिक-से-अधिक दूर करनेवाला और अच्छाइयों से अपना मेल करनेवाला होकर **देवभक्तम्**=देवों से सेवित **सुम्नम्**=(Hymn) प्रभु-स्तवन की **अभि**=ओर अपने को **प्रनय**=ले-चल, अर्थात् ज्ञान देनेवाले गुरु के प्रति तो तेरी श्रद्धा हो ही, साथ ही तू देवों के सेवनीय प्रभु का स्तवन करनेवाला बन।

भावार्थ—जिस आचार्य ने हमें वह ज्ञान प्राप्त कराया, जिससे हमारा जीवन निर्मल हो गया, उस आचार्य के चरणों में हमें यथाशक्ति भेंट देनी चाहिए और सदा प्रभु का स्तवन करनेवाला बनना चाहिए।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

ज्ञान+स्वास्थ्य व उज्ज्वल वंश

आ तं भंज सौश्रवसेष्वग्नऽउक्थऽउक्थऽआभंज शस्यमाने।
प्रियः सूर्ये प्रियोऽअग्ना भवात्युज्जातेन भिनददुज्जनित्वैः॥२७॥

पिछले मन्त्र की ही भावना को प्रकारान्तर से कहते हैं १. **अग्ने**=हे प्रगतिशील! तू **तम्**=उस ज्ञान देनेवाले आचार्य को **सौश्रवसेषु**=उत्तम यशोमय कर्मों में **आभज**=सेवित करनेवाला हो, अर्थात् आचार्य से शिक्षित होकर तू संसार में इस प्रकार उत्तम कर्म करनेवाला बन कि तेरे कर्मों से तेरे आचार्य का नाम उज्ज्वल हो। २. तू इस अपनी जीवन-यात्रा में **उक्थे उक्थे शस्यमाने**=जहाँ-जहाँ प्रभु-स्तवन हो रहा हो उस-उस स्थान पर **आभज**=प्रभु की उपासना करनेवाला बन, अर्थात् उन्हीं सत्सङ्गों में तू उपस्थित हो जहाँ प्रभु-स्तवन हो रहा हो। ३. इस प्रकार उत्तम कर्मों से आचार्य के नाम को उज्ज्वल करनेवाला तथा प्रभु-स्तवन में सम्मिलित होनेवाला व्यक्ति **सूर्ये प्रियः भवति**=सूर्य के समीप प्रिय होता है, अर्थात् इसके मस्तिष्करूप द्युलोक में सदा ज्ञान का सूर्य उदित रहता है। यह **अग्नौ प्रियः भवति**=अग्नि के समीप प्रिय होता है, अर्थात् इसके भौतिक शरीर में प्राणशक्ति की अग्नि सदा प्रज्वलित रहती है। इसके मस्तिष्क में ज्ञान का सूर्य उदित रहता है तो इसके पार्थिव शरीर की वेदि पर प्राणाग्नि सदा प्रज्वलित रहती है। ज्ञान चमकता हुआ होता है तो शरीर शक्ति की उष्णतावाला होता है। ४. अपने बाद भी यह **जातेन**=उत्पन्न पुत्र से **उद्भिदत्**=उदय व वृद्धि को प्राप्त होता है तथा **जनित्वै**=जनिष्यमाण (आगे पैदा होनेवाले) पौत्र आदि से भी यह अधिकाधिक उदय को प्राप्त होगा, अर्थात् इसका वंश और अधिक चमकनेवाला होगा।

भावार्थ—गुरु का आदर व प्रभु-भक्तिवाले पुरुष के जीवन में १. ज्ञान का सूर्य चमकता है २. इसकी जीवनी-शक्ति बनी रहती है तथा ३. इसका वंश उज्ज्वल होता है।

ऋषिः—वत्सप्रीः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

विष्णु+लक्ष्मी, नकि केवल लक्ष्मी

त्वामग्ने यजमानाऽअनु द्यून् विश्वा वसु दधिरे वार्याणि।
त्वया सह द्रविणमिच्छमाना व्रजं गोमन्तमुशिजो विवव्रुः॥२८॥

१. हे **अग्ने**=सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **त्वाम्**=आपकी **अनुद्यून्**=प्रतिदिन **यजमानाः**=उपासना करते हुए—आपका पूजन करते हुए ये **विश्वा वार्याणि**=सब वरणीय वसु=निवास के लिए आवश्यक धनों को **दधिरे**=धारण करते हैं, वस्तुतः प्रभु की उपासना वसुओं को प्राप्त कराती ही है। प्रभु अपने सच्चे भक्तों के योगक्षेम को चलाते हैं। २. ये **त्वया सह**=आपके साथ **द्रविणम्**=धन को **इच्छमानाः**=चाहनेवाले होते हैं। 'प्रभु-भक्त धन को न चाहें' यह बात नहीं है। धन की कामना तो शरीरधारी को करनी ही होती है, परन्तु प्रभु-भक्त प्रभु के साथ धन की कामना करता है। यह विष्णु के साथ ही लक्ष्मी के दर्शन की कामना करता है—अकेली लक्ष्मी को यह आमन्त्रित नहीं करता। वस्तुतः अकेली लक्ष्मी मनुष्य को विषयासक्त कर देती है। विष्णु की उपस्थिति मन को विषयप्रवण नहीं होने देती। धन विषयों को प्राप्त कराता है, प्रभु-स्मरण उन विषयों में फँसने से बचाता है, अतः विष्णु के साथ ही लक्ष्मी की शोभा है। ३. ये धनी परन्तु धनासक्ति से रहित **उशिजाः**=मेधावी पुरुष **गोमन्तम्**=आदित्य रश्मियोंवाले (गावः रश्मयः) **व्रजम्**=मार्ग को **विवव्रुः**=(विभिदुः—म०) खोलते हैं, अर्थात् आदित्यमण्डल के मध्य से मार्ग बनाते हैं। ये सूर्यमण्डल का भेदन करके 'स्वर्ज्योति' स्वयं देदीप्यमान ज्योति—ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। ५. मनुष्य का पहला पग पृथिवीलोक का विजय है। पृथिवीलोक से ऊपर उठकर उसे अन्तरिक्षलोक का विजय करना है—यही उसका दूसरा पग होता है। द्युलोक का विजय करके वह ब्रह्मज्योति को प्राप्त करता है। इस प्रकार यह आत्मा चतुष्पात् होता है। जितने-जितने हमारे कर्म उत्तम होंगे उतने-उतने उत्कृष्ट लोक में हम जन्म लेंगे। इस मर्त्यलोक से पितृलोक (चन्द्रलोक में) में, पितृलोक से देवलोक में (सूर्य में), अन्त में सूर्य से भी ऊपर उठकर ब्रह्मलोक में। ५. 'गोमन्तं व्रजं विवव्रुः' का अर्थ यह भी है कि (गावाः इन्द्रियाणि) इन्द्रियों के बाड़े को विशेषरूप से संवृत्त रखते हैं, अर्थात् इन्द्रियों का पूर्ण निरोध करते हैं।

भावार्थ—नित्याभियुक्त पुरुष वसुओं—जीवन-धारण के लिए आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करता है, क्योंकि यह लक्ष्मी को प्रभु के साथ ही चाहता है, अतः पापों में नहीं फँसता।

ऋषिः—वत्सप्रीः। देवता—अग्निः। छन्दः—विराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

सुवीररयि तथा अद्वेष

अस्तावि वग्निर्नराꣳसुशेवो वैश्वानरऽऋषिभिः सोमगोपाः।
अद्वेषे द्यावापृथिवी हुवेम देवा धत्त रयिमस्मे सुवीरम्॥२९॥

'वत्सप्री' कहता है कि १. **ऋषिभिः**=तत्त्वद्रष्टा लोगों से **अग्निः**=वह अग्रेणी प्रभु **अस्तावि**=स्तुति किया जाता है। अतत्त्वार्थवित् ही विषयासक्त होता है, अतः उस प्रभु की ही पूजा करनी चाहिए जो (क) **नराम्**=उन्नति के मार्ग पर चलनेवालों का **सुशेवः**=उत्तम कल्याण करनेवाला है। (ख) **वैश्वानरः**=सभी मनुष्यों का हित चाहता है। (विश्वनरहितः) अथवा सभी को (विश्वान् नरान् नयति) उत्कृष्ट मार्ग पर ले-चलता है। प्रभु की आवाज़

को न सुननेवाला ही मार्ग-भ्रष्ट होता है। (ग) **सोमगोपाः**=हमारी वीर्यशक्ति (vitality) की रक्षा करनेवाला है। प्रभु के स्मरण से मनुष्य विषयासक्ति से बचता है और अपनी शक्ति की रक्षा करने में समर्थ होता है। २. प्रभु का स्मरण व स्तवन करते हुए हम **अद्वेषे**=द्वेष से रहित, प्रेम से पूर्ण **द्यावापृथिव्यौ**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **हुवेम**=पुकारते हैं। हम चाहते हैं कि ब्रह्माण्ड में हमारा कोई शत्रु न हो-हम किसी के शत्रु न हों। हम द्वेष से अतीत हों। ३. द्वेषातीत होने के लिए ही हम चाहते हैं कि **देवाः**=हे देवो! **अस्मे**=हममें **सुवीरम्**=उत्तम वीरता से युक्त **रयिम्**=धन को **धत्त**=धारण करो। प्रत्येक देव हमें अपनी वह सम्पत्ति प्राप्त कराये जो हमें वीर बनानेवाली हो। अग्नि हमारी वाणी को सबल बनाए तो सूर्य आँखों को तथा दिशाएँ कानों को और चन्द्रमा मन को। इस प्रकार सब देव अपना-अपना दिव्य अंश प्राप्त कराके हमें उत्कृष्ट वीर बना दें, जिससे हम द्वेष से ऊपर उठ सकें।

भावार्थ-१. हम प्रभु का स्तवन करें। २. द्वेष से ऊपर उठें। ३. देवों से शक्ति प्राप्त करें। देवों से शक्ति प्राप्त करके हम द्वेष से ऊपर उठें। निर्द्वेष बनकर सभी का भला चाहना व करना ही सच्चा प्रभु-कीर्तन है। यही व्यक्ति 'वत्सप्री' है-प्रभु का सच्चा प्यारा है।

ऋषिः-विरूपाक्षः। **देवता**-अग्निः। **छन्दः**-गायत्री। **स्वरः**-षड्जः॥

'विरूपाक्ष'

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन्हव्या जुहोतन॥३०॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति इस बात पर थी कि सब देव हमारे अङ्गों में अपनी-अपनी सम्पत्ति को धारण कर उन्हें सुवीर बनाएँ। वे वीरतापूर्ण अंश इस मनुष्य को 'विरूपाक्ष' बनाते हैं-विशिष्ट रूपवाली हैं इन्द्रियाँ जिसकी। इस विरूपाक्ष का कथन है कि २. **समिधा**=ज्ञान की दीप्ति से **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु की **दुवस्यत**=परिचर्या करो। वस्तुतः प्रभु की सच्ची उपासना ज्ञान से ही होती है। ज्ञानीभक्त ही प्रभु को आत्मतुल्य प्रतीत होता है। २. **घृतैः**=मलों के क्षरण व विद्रावण से, दीप्त अन्तःकरणवृत्तियों से **अतिथिम्**=उस (अत सातत्यगमने) निरन्तर प्राप्त, सदा हृदय में विद्यमान प्रभु को **बोधयत**=(चेतयत) जानो। उस प्रभु का ज्ञान तभी होता है जब हमारे हृदयों पर से मल का आवरण दूर हो जाता है। प्रभु तो उपस्थित हैं ही, परन्तु हृदयों के मलावृत्त होने से उसका ज्ञान नहीं होता। मल हटा और प्रभु का दर्शन हुआ। ३. **अस्मिन्**=इस प्रभु में स्थित हुए **हव्या**=दातुमर्ह-देने योग्य पदार्थों को **आजुहोतन**=दान में दो। प्रभु में स्थित हुए, अर्थात् प्रभु को कभी न भूलते हुए हम सदा दान देनेवाले बनें। देकर बचे हुए को खानेवाले बनें। यह यज्ञशेष का सेवन ही प्रभु-अर्चन हो जाता है। वस्तुतः प्रभु-स्मरण करनेवाला व्यक्ति वैषयिक वृत्ति का तो बनता ही नहीं। यह विषय-वासनाओं से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति 'विरूपाक्ष' क्यों न बनेगा।

भावार्थ-१. ज्ञान-दीप्ति से हम प्रभु की परिचर्या करें। २. नैर्मल्य से प्रभु के प्रकाश को देखें। ३. प्रभु-दर्शन करते हुए सदा देकर खाएँ-यज्ञशेष का सेवन करें।

ऋषिः-तापसः। **देवता**-अग्निः। **छन्दः**-विराडनुष्टुप्। **स्वरः**-गान्धारः॥

ज्ञानी-प्रियदर्शन

उदु त्वा विश्वे देवाऽअग्ने भरन्तु चित्तिभिः।
स नो भव शिवस्त्वꣳसुप्रतीको विभावसुः॥३१॥

१. पिछले मन्त्र की भावना के अनुसार मनुष्य अपने ज्ञान को निरन्तर बढ़ाए, नैर्मल्य

की साधना करे, दान देकर यज्ञशेष को खाने की वृत्तिवाला बने। २. इस वृत्तिवाला व्यक्ति **उत् उ**=निश्चय से विषय-वासनाओं से ऊपर उठता है (**उत्**=out)। यह विषय-वासना से ऊपर उठना ही वास्तविक तपस्या है, अतः मन्त्र का ऋषि 'तापस' नामवाला हो गया है। ३. **अग्ने**=हे आगे बढ़नेवाले! **त्वा**=तुझ तापस को **विश्वे देवाः**=सब देव **चित्तिभिः**=ज्ञानों से **भरन्तु**=भर दें। यह तापस ज्ञानियों के सम्पर्क में आता है। यह ज्ञानियों का सम्पर्क इसे अधिकाधिक ज्ञानी बनाता है। उनके सम्पर्क में इसकी बुद्धि विशिष्ट और विशिष्टतर होती चलती है। ५. **सः**=वह **विभावसुः**=ज्ञान-धनवाला **सुप्रतीकः**=शोभन मुखवाला या प्रियदर्शनवाला **त्वम्**=तू **नः**=हमारे लिए **शिवः**=कल्याण को प्राप्त करानेवाला **भव**=हो। यह तापस प्रजाओं में विचरता है। उन प्रजाओं के लिए अपने ज्ञान-धन को विकीर्ण करता है और इस ज्ञान का प्रसार यह अत्यन्त माधुर्य के साथ करता है—सबके लिए यह सुप्रतीक=प्रियदर्शन होता है। इसके मुख पर मानस शान्ति का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है।

भावार्थ—एक परिव्राजक प्रचारक को तपस्वी, ज्ञानी व प्रियदर्शन होना चाहिए।

ऋषिः—तापसः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

ज्योतिष्मान्

प्रेदग्ने ज्योतिष्मान् याहि शिवेभिरर्चिभिष्ट्वम्।
बृहद्भिर्भानुभिर्भासन् मा हिꣳसीस्तन्वा प्रजाः॥३२॥

१. हे **अग्ने**=अपने ज्ञानोपदेशों से सबको आगे ले-चलनेवाले 'तापस'! **त्वम्**=तू **ज्योतिष्मान्**=ज्ञान की ज्योतिवाला बनकर **शिवेभिः अर्चिभिः**=कल्याणकर ज्ञान की ज्वालाओं से **इत्**=निश्चयपूर्वक **प्रयाहि**=आगे बढ़। वस्तुतः यह तापस अपनी ज्ञान-ज्वालाओं से प्रजाओं के पापरूप तृणों को दग्ध करता हुआ चलता है। ३. **बृहद्भिः**=वृद्धि की कारणभूत **भानुभिः**=दीप्तियों से **भासन्**=चमकते हुए आप **तन्वा**=अपने शरीर से **प्रजाः**=प्रजाओं को **मा हिंसीः**=मत हिंसित कीजिए। तापस के शरीर से कोई ऐसी क्रिया न हो जो प्रजाओं की हिंसा का कारण बने। इस अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर ही इसके समीप आनेवाले सभी व्यक्तियों की वैरभावना समाप्त होगी और वे प्रेम से इसके उपदेश को सुन पाएँगे। ३. मन्त्रार्थ में निम्न बातें बड़ी स्पष्ट हैं कि आदर्श प्रचारक वही है जो (क) स्वयं ज्ञान की ज्योतिवाला है। (ख) जिसकी ज्ञान-ज्योति अमङ्गल का ध्वंस करती है। (ग) इसका ज्ञान लोगों की वृद्धि का कारण बनता है। (घ) यह किसी की हिंसा नहीं करता—मधुरवाणी का ही प्रयोग करता है।

भावार्थ—स्वयं ज्योतिर्मय अहिंसक वृत्तिवाले बनकर हम ज्ञान-प्रसार द्वारा लोककल्याण का साधन करें।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

मेघ-गर्जन

अक्रन्ददग्नि स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद् वीरुधः समञ्जन्।
सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धोऽअख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः॥३३॥

१. **अग्निः**=सब उन्नतियों के साधक, प्रकाश देनेवाले प्रभु **स्तनयन् इव द्यौः**=गर्जते हुए मेघ के समान **अक्रन्दत्**=उच्च स्वर से वेदज्ञान का उच्चारण कर रहे हैं। २. जब हम

उनकी वाणी को सुनते हैं तो **क्षामा** =हमारे इस शरीर को (पृथिवी शरीरम्) **रेरिहत्**=वे अत्यन्त आनन्दमय बना देते हैं। ३. **वीरुधः**=विशिष्ट रोहणों को व विविध शक्तियों के विकासों को वे **समञ्जन्**=हममें व्यक्त करते हैं, अर्थात् प्रभु की वाणी को सुनकर तदनुसार आचरण करने पर हमारी शक्तियों का विकास होता है और हमारा स्वस्थ व सुन्दर जीवन आनन्दमय बन जाता है। ४. **जज्ञानः**=प्रकट होते हुए वे प्रभु **इद्धः**=हृदयाकाश में दीप्त हुए **हि ईम्**=निश्चय से **सद्यः**=शीघ्र ही **विअख्यत्**=विशेषरूप से हमारे जीवन को प्रकाशमय बना देते हैं। ५. वे प्रभु **रोदसी अन्तः**=इस द्युलोक व पृथिवीलोक के अन्दर, अर्थात् सम्पूर्ण आकाश में **भानुना**=दीप्ति से **आभाति** =समन्तात् चमक रहे हैं, उसी के प्रकाश से सभी प्रकाशित हो रहे हैं।

भावार्थ—हम उस प्रभु की वाणी को सुनें, हममें विविध शक्तियों का विकास होगा और हमारा जीवन चमक उठेगा।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

सुननेवाला

प्रप्रायमग्निर्भरतस्य शृण्वे वि यत्सूर्यो न रोचते बृहद्भाः।
अभि यः पूरुं पृतनासु तस्थौ दीदाय दैव्योऽअतिथिः शिवो नः॥३४॥

१. पिछले मन्त्र में प्रभु की मेघ-गर्जना का उल्लेख था। **भरतस्य**=सारे ब्रह्माण्ड का भरण करनेवाले प्रभु की इस गर्जना को **अयं अग्निः**=यह उन्नतिशील जीव **शृण्वे**=सुनता है और **प्रप्र**=निरन्तर आगे बढ़ता चलता है। उस वाणी को सुनेंगे तो उन्नति क्यों न होगी? २. इस वाणी को सुननेवाले की पहचान यह है **यत्**=कि यह **सूर्यः न**=सूर्य की भाँति **विरोचते**=विशिष्ट दीप्तिवाला होता है। **बृहद्भाः**=वृद्धिशील ज्ञानवाला होता है। ३. उसी ने वाणी सुनी है **यः**=जो **पृतनासु**=संग्रामों में **पूरुम्**=सबको व्याप्त करनेवाले, अत्यन्त प्रबल कामासुर का **अभितस्थौ**=मुक़ाबला करता है, अर्थात् प्रभु की वाणी को सुननेवाला काम पर विजय पाता है। ४. **दीदाय**=यह स्वास्थ्य की दीप्तिवाला होता है। ५. **दैव्यः**=प्रभु के साथ सम्बन्धवाला होने से दिव्य गुणों से परिपूर्ण होता है। ६. **अतिथिः**=(अत सातत्यगमने) निरन्तर गतिशील होता है और ७. **नः**=हमारे लिए **शिवः**=कल्याणकर होता है।

भावार्थ—प्रभु की वाणी के सुनने पर मनुष्य ज्ञान-सूर्य से चमकता है, काम पर विजय पाता है, स्वस्थ, दिव्य गुणोंवाला, निरन्तर क्रियाशील व सभी का कल्याण करनेवाला होता है। काम पर विजय पानेवाला यह 'वशिष्ठ' कहलाता है—वशियों में श्रेष्ठ।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—आपः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वसिष्ठ का स्वागत Reception

आपो देवीः प्रतिगृभ्णीत भस्मैतत्स्योने कृणुध्वꣳसुरभाऽउ लोके।
तस्मै नमन्तां जनयः सुपत्नीर्मातेव पुत्रं बिभृताप्स्वेनत्॥३५॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु की वाणी को सुननेवाले अतएव **एतत्**=इस **भस्म**=ज्ञान की दीप्ति से चमकनेवाले वसिष्ठ को **आपः देवीः**=दिव्य गुणोंवाली प्रजाएँ **प्रतिगृभ्णीत**=ग्रहण (receive) करें—उसका स्वागत करें। जब कभी 'वसिष्ठ' हमारे बीच में आये तो हमें उसका स्वागत करना ही चाहिए। २. **उ**=और उसे **स्योने**=सुखावह—जहाँ सब प्रकार की

भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की सुविधा है, उस **सुरभा**=सुगन्धित–दुर्गन्धशून्य **लोके**=स्थान में **कृणुध्वम्**=स्थापित करो, ठहराओ। इस वसिष्ठ के ठहरने का स्थान स्वच्छ, पवित्र व दुर्गन्धशून्य होना चाहिए। ३. इसके समीप लोग उपदेश लेने आएँगे ही। उस समय **तस्मै**=उस ब्रह्मज्ञानी के लिए **जनयः**=सन्तानों को जन्म देनेवाले गृहस्थ लोग तथा **सुपत्नीः** (सुपत्न्यः)=श्रेष्ठ पत्नियाँ **नमन्ताम्**=नमन करनेवाली हों। उसके समीप आदर से उपस्थित होकर उसके उपदेश को सुनें। ४. **एतत्**=इस वसिष्ठ को **अप्सु**=प्रजाओं में इस प्रकार **बिभृत**=धारण करो **इव**=जैसे **माता पुत्रम्**=माता पुत्र को धारण करती है। माता जैसे पुत्र का पालन करती है उसी प्रकार प्रजाओं को इस वसिष्ठ का पालन करना है।

भावार्थ–उत्तम वृत्तिवाली प्रजाओं का यह कर्त्तव्य है कि वे लोकहित में तत्पर, काम–विजयी वसिष्ठ का स्वागत करें। उसे सुविधाजनक स्थान पर ठहराएँ। नम्रता से उसके उपदेश को सुनें। उसे माता के समान अपने लिए हितकर समझें।

ऋषिः–विरूपः। **देवता**–अग्निः। **छन्दः**–निचृद्गायत्री। **स्वरः**–षड्जः॥

आदर्श प्रचारक

अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनु रुध्यसे। गर्भे सञ्जायसे पुनः ॥३६॥

१. हे **अग्ने**=ज्ञान के प्रकाशवाले, प्रजाओं को उन्नति–पथ पर ले–चलनेवाले! **विरूप**=विशिष्ट रूपवाले तेजस्विन्! **तव**=तेरा **अप्सु**=प्रजाओं में **सधिः**=समान स्थान है, अर्थात् जहाँ प्रजाएँ हैं, वहीं तुझे भी होना है, प्रजाओं में रहते हुए उन्हें ज्ञान देने के लिए सदा यत्नशील रहना है। २. **सः**=वह तू प्रजाओं को ज्ञान देता हुआ **सौषधीः**=यव आदि (यवाद्याः–म०) ओषधियों का ही **अनुरुध्यसे**=(स्वीकरोषि–म०) स्वीकार करता है। तेरा भोजन सात्त्विक व वानस्पतिक ही होता है। ३ (क) **गर्भे सन्**=प्रजाओं के मध्य में रहता हुआ तू **पुनः**=फिर **जायसे** =बाहर हो जाता है, अर्थात् निरन्तर आगे चलते जाने के कारण यह सदा किसी एक स्थान पर ठहरा नहीं रहता। आज यहाँ की प्रजा में है, कल इससे बाहर होकर अन्यत्र चला गया है। (ख) अथवा **गर्भे सन्**=प्रति वर्ष चौमासे में गर्भ में, अदृश्यरूप में, कहीं एकान्त अज्ञात स्थान में ठहरकर तू **पुनः**=फिर **जायसे**=प्रकट हो जाता है और अपने अन्दर ग्रहण किये हुए ज्ञान का प्रसार करता है।

भावार्थ–आदर्श पुरुष वही है जो प्रजाओं के साथ ही रहता है, वानस्पतिक भोजन करता है। चार मास एकान्त में अपने को ज्ञान से भरकर फिर ज्ञान–प्रसार के लिए बाहर आ जाता है।

ऋषिः–विरूपः। **देवता**–अग्निः। **छन्दः**–भुरिगार्ष्युष्णिक्। **स्वरः**–ऋषभः॥

शाकाहार–विश्वबन्धुत्व

गर्भोऽअस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम्।
गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भोऽअपामसि ॥३७॥

१. 'गर्भ' शब्द 'गृ' निगरणे (निगलना) व 'ग्रह उपादाने'. (ग्रहण करना) धातुओं से बनता है, अतः यह विरूप=औरों की अपेक्षा उत्कृष्ट रूपवाला–ज्ञान–प्रसार में रत व्यक्ति **ओषधीनाम्**=ओषधियों का **गर्भः असि**=निगलनेवाला–खानेवाला है। यह **वनस्पतीनाम्**=वनस्पतियों का **गर्भः**=खानेवाला है। प्रचारक को ओषधि–वनस्पतियों का ही ग्रहण करना

चाहिए उसे मांसभोजी नहीं होना है। मांसभोजन क्रूरता व स्वार्थ का प्रतीक है। २. यह प्रचारक **विश्वस्य भूतस्य**=सब प्राणियों को **गर्भः**=अपनी 'मैं' में ग्रहण करनेवाला है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्'=सारी वसुधा को यह अपना परिवार समझता है। **अपाम्**=सब प्रजाओं का **गर्भः** =ग्रहण करनेवाला है। (क) सारी प्रजाओं को अपनी 'मैं' में समाविष्ट कर लेने से यह सभी के दुःख से दुःखी होता है, अतः करुणात्मक स्वभाववाला बनता है। (ख) सभी की उन्नति में प्रसन्न होता है, अतः ईर्ष्या आदि से परे यह 'मोद' की वृत्तिवाला होता है। (ग) सभी से स्नेह के करण 'मैत्री'वाला होता है। (घ) सभी में अपनापन अनुभव करने के कारण यह पापरत से भी घृणा न करके उपेक्षा को ही अपनाता है। ३. इसका यह स्वभाव इसके वानस्पतिक व सात्त्विक भोजन के कारण शुद्धान्तःकरण होने से ही है **'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'**। जो मांसभोजी होगा वह स्वार्थप्रधान होने से सभी को अपनी 'मैं' में समाविष्ट न कर सकेगा। यहाँ मन्त्र के पूर्वार्ध व उत्तरार्ध में यही कार्यकारणभाव है। शाकाहार कारण है, विश्वबन्धुत्व की भावना कार्य है।

भावार्थ—एक आदर्श प्रचारक को शाकाहारी व विश्वबन्धुत्व की भावनावाला होना चाहिए।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

योनिम्, अपः, पृथिवीम्

प्रसद्य भस्मना योनिमपश्च पृथिवीमग्ने।
सꣳसृज्य मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान् पुनरासदः ॥३८॥

१. **भस्मना**=(भस दीप्तौ, प्रदीपकं तेजः—द०) अपने ज्ञान के दीप्त तेज से **योनिः**=मूलस्थान ब्रह्म में **प्रसद्य**=स्थित होकर, अर्थात् प्रभु की उपासना करके हे **अग्ने**=सबके लिए मार्ग दिखानेवाले विद्वन्! तू **अपः**=प्रजाओं में व कर्मों में स्थित हो, अर्थात् तेरे दिन का प्रारम्भ सदा प्रभु के ध्यान से हो। यह प्रभु-दर्शन तुझे ज्ञान से ही तो होगा, अतः तूने अधिक-से-अधिक ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करना। यह दीप्त-ज्ञान का तेज तुझे ब्रह्मनिष्ठ बनाएगा, परन्तु तूने सदा समाधि के आनन्द में ही न उलझे रहना। तूने अपने ज्ञान को प्रजाओं में भी फैलाने के लिए यत्नशील होना। तेरा जीवन बड़ा क्रियाशील हो। ब्रह्मज्ञानी अकर्मण्य नहीं होता। २. तूने इस ज्ञान-प्रसार के कार्य को करते हुए **पृथिवीम्**=(प्रथ विस्तारे) विशाल हृदय-प्रदेश में स्थित होना। तेरा हृदय विशाल होगा तभी तू सभी को अपनी 'मैं' में समाविष्ट करके वसुधा को अपना परिवार बना पाएगा। ३. **त्वम्**=तू **मातृभिः**=जीवन का निर्माण करनेवाले 'माता-पिता व आचार्य' के **संसृज्य**=सम्पर्क में आकर **ज्योतिष्मान्**=उत्तम ज्ञान की ज्योतिवाला बना है, **पुनः**=इस प्रकार ज्योतिष्मान् बनकर ही फिर तू **आसदः**=उस ब्रह्म में स्थित हो, प्रजा व कर्मों में स्थित हो तथा विशाल हृदयान्तरिक्ष में स्थित हो (योनिम्, अपः, पृथिवीम्)। जिसका जीवन उत्तम माता-पिता व आचार्य इन निर्माताओं के सम्पर्क में नहीं आता, उसे ज्ञान भी प्राप्त नहीं होता और उसके लिए ब्रह्मनिष्ठ होना सम्भव नहीं होता।

भावार्थ—विद्वान् अपने जीवन को ज्ञान-ज्योति से दीप्त करे। ब्रह्मदर्शन करता हुआ वह ईशचिन्तन से दिन का आरम्भ करे, प्रजाओं में ज्ञान-प्रसार करता हुआ उदार हृदय बने और दिनावसान पर पुनः प्रभु का ध्यान करता हुआ रात्रिशयन में चला जाए।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

माता की गोद में

पुनरासद्य सदनमपश्च पृथिवीमग्ने।
शेषे मातुर्यथोपस्थेऽन्तरस्यां शिवतमः ॥३९॥

गत मन्त्र की भावना का ही विस्तार करते हुए प्रभु 'विरूप' से कहते हैं कि (१) ज्ञान-प्राप्ति के बाद **पुनः** =फिर **सदनम्**=सम्पूर्ण संसार के कारण उस ब्रह्म में **अपः**=प्रजाओं व कर्मों में **पृथिवी च**=और विशाल हृदयान्तरिक्ष में **आसद्य**=स्थित होकर हे **अग्ने**=प्रकाश के प्रसारक विद्वन्! तू **अस्यां अन्तः**=इस प्रजा में **शेषे**=इस प्रकार निवास करता है **यथा**=जैसे कोई बालक **मातुः उपस्थे**=माता की गोद में शयन करता हो। तू प्रजाओं से दूर नहीं भागता। प्रजाओं में निवास करता हुआ तू अशान्ति अनुभव नहीं करता। २. तू इन प्रजाओं में ही स्थित हुआ **शिवतमः**=उनका अधिक-से-अधिक कल्याण करता है। अज्ञानवश गालियाँ देनेवालों को भी तू आशीर्वाद ही देता है।

भावार्थ—विद्वान् संन्यासी प्रजाओं में ज्ञान फैलाते हुए उनका अधिक-से-अधिक कल्याण करता है।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

शक्ति-लाभ व पाप से निवृत्ति

पुनरूर्जा निवर्त्तस्व पुनरग्नऽइषायुषा। पुनर्नः पाह्यꣳहसः ॥४०॥

१. पिछले मन्त्रों में 'विरूप' को प्रभु ने लोकहित के उद्देश्य से प्रजाओं में ज्ञान-प्रचार का निर्देश किया था। 'विरूप' उस निर्देश को शिरोधार्य करके प्रभु से प्रार्थना करता है। प्रभु के निर्देश को मानने से वह 'वत्सप्री' बनता है और कहता है कि हे प्रभो! आप **पुनः**= फिर ऊर्जा, बल और प्राणशक्ति के साथ **निवर्त्तस्व**=मुझे प्राप्त होओ। आप शक्ति देंगे तभी मैं इस ज्ञान-प्रचार के कार्य को कर पाऊँगा। २. हे **अग्ने**=मार्गदर्शक प्रभो! **पुनः**=फिर **इषा**=प्रेरणा से तथा **आयुषा**=दीर्घजीवन के वरदान के साथ मुझे प्राप्त होओ। आपकी प्रेरणा ही तो मुझे वह प्रकाश दिखाएगी जिसे मुझे औरों के प्रति देना है। ३. **पुनः**=फिर **नः**=मुझे **अंहसः**=पाप से **पाहि**=बचाइए। अपने इस दीर्घ जीवन में मैं पाप से बचा रहूँ। मैं स्वयं पाप में पड़ जाऊँगा तो औरों को क्या मार्ग दिखाऊँगा। आपकी कृपा से मैं विषयों के प्रति झुकाववाला न होऊँ।

भावार्थ—हम प्रभु से बल व प्राणशक्ति प्राप्त करें। प्रभु की प्रेरणा को सुनें। दीर्घजीवनवाले हों। पाप से सदा बचे रहें।

ऋषिः—वत्सप्रीः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

धारक-धन

सह रय्या निवर्त्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया। विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि ॥४१॥

१. हे **अग्ने**=मार्गदर्शक प्रभो! आप हमें **रय्या सह**=धन के साथ **निवर्त्तस्व**=प्राप्त होओ। संसार-यात्रा को चलाने के लिए धन आवश्यक है, परन्तु वह धन यदि प्रभु-स्मरण के साथ होता है तो हमें विषयों में फँसानेवाला नहीं होता, अतः 'वत्सप्री' उसी धन के लिए प्रार्थना करता है जो प्रभु-स्मरण से युक्त है। २. हे अग्ने! आप **विश्वतः परि**=सब

ओर से उस **धारया**=धन की धारा से **पिन्वस्व**=हमें प्राप्त हों जो **विश्वपस्न्या**=सबको खिलानेवाली हो, अर्थात् मैं धन तो प्राप्त करूँ, परन्तु उसी धन को जो मुझे लोकहित के कार्य में अधिक श्रमशील बनाए। उस धन से मैं अपने भोग-साधनों को न बढ़ाकर दुःखियों का दर्द दूर करने में उसका विनियोग करनेवाला बनूँ। मैं पराश्रित न होकर स्वतन्त्रता से ज्ञान का प्रसार कर सकूँ।

भावार्थ—हम प्रभु-कृपा से पर्याप्त धन प्राप्त करें, जिससे निर्भीकता से ज्ञान का प्रसार करनेवाले बन सके। एवं, आदर्श उपदेशक वही है जो १. सबल है। २. प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाला है। ३. दीर्घ जीवनवाला है। ४. पाप से बचा रहता है। ५. पर्याप्त धनवाला है, जिससे पराधीन न हो जाए। ६. इसका धन भोगों में विनियुक्त न होकर लोकहित के लिए व्यय होता है।

ऋषिः—दीर्घतमाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

दीर्घतमाः

बोधा मेऽअस्य वचसो यविष्ठ मꣳहिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधावः।
पीयति त्वोऽअनु त्वो गृणाति वन्दारुष्टे तन्वं वन्देऽअग्ने॥४२॥

१. मन्त्र ४० तथा ४१ के अनुसार एक व्यक्ति अपने को आदर्श प्रचारक बनाकर प्रजाओं में ज्ञान का प्रसार करता है और तम=अज्ञान का (दृ विदारणे) विदारण करने के कारण यह 'दीर्घतमाः' नामवाला हो जाता है। यह प्रभु से कहता है कि हे **यविष्ठ**=बुराइयों को सर्वाधिक दूर करनेवाले तथा अच्छाइयों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! हे **स्वधावः**=(स्व+धा+वन्) आत्मधारण की शक्ति देनेवाले प्रभो! **मंहिष्ठस्य**=(दातृतम) अधिक-से-अधिक धनों के देनेवाले, अर्थात् आपसे प्राप्त कराये गये धनों को लोकहित में विनियुक्त करनेवाले और इस प्रकार **प्रभृतस्य**=प्रजाओं का प्रकृष्ट भरण करनेवाले मेरे **अस्य वचसो बोध**=इस वचन को आप अवश्य जानिए कि २. इस कार्य में लगे हुए मेरी **त्वः**=कोई एक तो **पीयति**=हिंसा करता है और **अनु**=पीछे सामान्यतः मृत्यु के बाद **त्वः**=कोई **गृणाति**=प्रशंसा भी करता है। आपके निर्देशानुसार मैं प्रजाओं में ही अपना स्थान बनाकर ज्ञान-प्रचार में लग गया हूँ, परन्तु मैं जिनके हित में लगा हूँ वे ही मुझे गालियाँ देते हैं—मेरी हिंसा पर उतारू हैं। कोई प्रशंसा भी करता है, परन्तु वैरियों की संख्या अधिक है—मेरी हिंसा करनेवाले बहुत हैं। ३. अतः मैं तो **अग्ने**=हे मार्गदर्शक प्रभो! **ते**=तेरा **वन्दारुः**=अभिवादन व स्तुति करनेवाला बनता हूँ और **तन्वम्**=इस प्रजारूप तेरे शरीर को **वन्दे**=नमस्कार करता हूँ। इस प्रजा के अन्दर भी मैं आपका ही रूप देखने का प्रयत्न करता हूँ, अतः उनसे की गई हिंसा से घबराता नहीं।

भावार्थ—हे प्रभो! मुझे शक्ति दीजिए कि मैं प्रजाओं के लिए अपने सर्वस्व को दे सकूँ, उनका प्रकृष्ट भरण करनेवाला बनूँ। वे हिंसा भी करें तो भी मैं उनमें आपका ही रूप देखने का प्रयत्न करूँ।

ऋषिः—सोमाहुतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

सोमाहुति

स बोधि सूरिर्मघवा वसुपते वसुदावन्।
युयोध्यस्मद् द्वेषाꣳसि विश्वकर्मणे स्वाहा॥४३॥

गत मन्त्र की भावना के अनुसार दीर्घतमा जब सब प्रजाओं में प्रभु का रूप देखता हुआ उनके प्रति आदर की भावनावाला होकर प्रचार-कार्य में लगता है तब यह विनीतता को धारण करने के कारण 'सोम' कहलाता है। सोम (वीर्य) की रक्षा के कारण भी यह 'सोम' कहलाता है और अपने जीवन को अर्पित करने के कारण 'आहुति' होता है। इस प्रकार इसका नाम 'सोमाहुति' हो जाता है। इस सोमाहुति से प्रभु कहते हैं कि (१) **सः बोधि**=वह तू समझदार बन-ज्ञानी बन। ज्ञानी बनकर ही तो यह औरों को ज्ञान देनेवाला बनेगा। २. **सूरिः**=विद्वान् तू (सु प्रेरणे) प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाला हो। ३. **मघवा**=तू ज्ञान के ऐश्वर्यवाला अथवा (मघ=मख) यज्ञशील हो। ४. **वसुपते**=हे वसु के पति-ज्ञानैश्वर्य देनेवाले! तू **अस्मत्**=हमसे **द्वेषांसि**=द्वेषों को **युयोधि**=दूर कर अथवा प्रभु के प्रति जो अप्रीति की भावना है (द्विष् अप्रीतौ) उसे तू दूर करनेवाला हो, अर्थात् तू लोगों को प्रकृति-प्रवण न रहने देकर उन्हें प्रभु-प्रवण बनानेवाला हो। ५. **विश्वकर्मणे**=इस प्रकार लोकहित (विश्व-हितकर्मणे, मध्यमपदलोपः) के लिए कर्म करनेवाले के लिए **स्वाहा**=(सु आह) प्रशंसात्मक शब्द कहे जाते हैं। यह लोकहित करनेवाला व्यक्ति प्रशंसा प्राप्त करता है। इसके लिए सभी शुभ शब्दों का प्रयोग करते हैं।

भावार्थ-प्रचारक ने स्वयं 'ज्ञानी, प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाला, यज्ञ की वृत्तिवाला' बनना है। ज्ञानैश्वर्य प्राप्त करके ज्ञानैश्वर्य को देनेवाला बनना है। प्रजाओं में से द्वेष को दूर करके प्रेम का प्रसार ही इसका मुख्य ध्येय होना चाहिए। हमारे सब कर्म लोकहित के लिए हों। हमारा जीवन त्यागवाला व प्रशंसनीय हो।

ऋषिः-सोमाहुतिः। **देवता**-अग्निः। **छन्दः**-स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**-धैवतः॥

सत्य-कामना

पुनस्त्वा ऽऽदित्या रुद्रा वसवः समिन्धतां पुनर्ब्रह्माणो वसुनीथ यज्ञैः।
घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः॥४४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार 'सोमाहुति' ज्ञानी बना है। ज्ञान ही उसका धन है। इस ज्ञानरूप धन को वह प्रजा में बाँटता है, उसके ज्ञान का स्रोत सूखे नहीं, अतः वह सदा ज्ञानियों के सम्पर्क में रहता है। मन्त्र में कहते है कि **त्वा**=तुझे **आदित्याः**=ब्रह्मज्योति का आदान करनेवाले **रुद्राः**=ब्रह्म के नाम के जप व ध्यान से वासनाओं पर आक्रमण करनेवाले (रोरूयमाणो द्रवति) **वसवः**=नियमित जीवन से अपने निवास को उत्तम बनानेवाले ज्ञानी लोग **पुनः समिन्धताम्**=फिर-फिर ज्ञान से समिद्ध करनेवाले हों। इनके सम्पर्क में आने से तेरी ज्ञान-ज्योति सदा बढ़ती रहे। **वसुनीथ**=हे ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करानेवाले विद्वन्! **ब्रह्माणः**=ब्रह्मवेत्ता लोग **यज्ञैः**=यज्ञों से-अपने सम्पर्कों से तुझे समिद्ध व दीप्त बना डालें, अथवा यज्ञों के द्वारा तेरे जीवन को उज्ज्वल बना दें। ३. **घृतेन**=घृत के द्वारा **त्वम्**=तू **तन्वम्**=अपने शरीर को **वर्धयस्व**=बढ़ा। 'घृ क्षरणदीप्त्योः' नैर्मल्य व दीप्ति का यह घृत तेरे शरीर में लगेगा। 'घृतमायुः' इस वाक्य के अनुसार घृत का ठीक प्रयोग दीर्घजीवन का कारण है। ३. **यजमानस्य** =यज्ञ के स्वभाववाले तेरी **कामाः**=कामनाएँ **सत्याः सन्तु**=सत्य हों, अर्थात् तेरी इच्छाएँ असत्य न हों। तू सदा शुभ कामनाओं का करनेवाला हो। वस्तुतः यज्ञशील पुरुष की सब इच्छाएँ पूर्ण होती हैं, अतः **सत्याः**=तेरी इच्छाएँ सत्य हों, अर्थात् पूर्ण हों।

भावार्थ—१. ज्ञानीपुरुष ज्ञानियों के सम्पर्क में आकर अपने ज्ञान को सदा बढ़ाये, २. घृत आदि सात्त्विक वस्तुओं के प्रयोग से अपने शरीर व जीवन की वृद्धि करनेवाला हो तथा ३. यह कभी असत्य कामनाओं को करनेवाला न हो।

ऋषिः—सोमाहुतिः। **देवता**—पितरः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वासना-विनाश

अपेत॒ वीत॒ वि च॑ सर्पतातो॒ येऽत्र॒ स्थ पु॑रा॒णा ये च॒ नूत॑नाः।
अदा॑द्यमो॒ऽव॒सान॑ं पृथि॒व्याऽअक्र॑न्नि॒मं पि॒तरो॑ लो॒कम॑स्मै॥४५॥

१. गत मन्त्र की समाप्ति 'सत्याः सन्तु.....कामाः' पर थी। हमारी इच्छाएँ सत्य हों, असत्य न हों। उसी के स्पष्टीकरण से प्रस्तुत मन्त्र प्रारम्भ होता है। यहाँ मन्त्र का ऋषि 'सोमाहुति' मन में उत्पन्न होनेवाली अशुभ इच्छाओं व वासनाओं से कहता है कि **ये**=जो भी **अत्र**=यहाँ—मेरे हृदय में **पुराणाः**=देर से चली आ रही अशुभ इच्छाएँ हैं **च**=और **ये**=जो **नूतनाःस्थ**=नवीन वासनाएँ हैं वे सब **अतः अप इत**=यहाँ से दूर चली जाओ। **च**=और **वि+इत**=विविध दिशाओं में भाग जाओ। **विसर्पत**=इधर-उधर विकीर्ण हो जाओ। २. **यमः**=जीवन को नियम में रखनेवाला व्यक्ति **पृथिव्याः**=शरीर से **अवसानम्**=वासनाओं की समाप्ति को **अदात्**=दे, अर्थात् नियमित जीवन के द्वारा इन वासनाओं का अन्त कर दे। वासनाओं को समाप्त करने का प्रकार यही है कि हम अपने जीवन की क्रियाओं को बड़ा नियमित कर लें। यह नियमित जीवन ही संयम को सिद्ध करेगा। ३. **पितरः**=ज्ञान देनेवाले लोग **अस्मै**=इस संयमी पुरुष के लिए **इमं लोकं अक्रन्**=इस लोक को करते हैं। यह संसार संयमी पुरुष के लिए है, वही इसका आनन्द उठा सकता है। असंयमी पुरुष को तो यह संसार खा जाता है।

भावार्थ—हम जीवन से वासनाओं को दूर भगा दें। नियमित जीवन से ही वासना दूर होती है। यह संसार संयमी पुरुष के लिए ही सुखद है।

ऋषिः—सोमाहुतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

ज्ञान व सेवा

सं॒ज्ञान॑मसि कामध॒र॑णं॒ मयि॑ ते कामध॒र॑णं भूयात्।
अ॒ग्नेर्भस्मा॑स्य॒ग्नेः पुरी॑षमसि॒ चित॑ स्थ परि॒चित॑ऽऊर्ध्व॒चित॑ः श्रयध्वम्॥४६॥

१. प्रभु गत मन्त्र के अनुसार वासनाओं को दूर करनेवाले सोमाहुति से कहते हैं कि **संज्ञानम् असि**=तू उत्तम ज्ञानवाला है। उस ज्ञानवाला है जिस ज्ञान से देवलोग परस्पर प्रेमपूवर्क मिलकर चलते हैं, जिस ज्ञान से वासना 'प्रेम' में परिवर्तित हो जाती है। २. **कामधरणम्**=काम का तू धरणकर्त्ता है—काम को तू नियन्त्रणपूर्वक अपने में धारण करनेवाला है। **मयि**=मुझ प्रभु में **ते**=तेरा **कामधरणम्**=काम (इच्छा) का धारण **भूयात्**=हो, अर्थात् तू मेरी प्राप्ति की कामनावाला बन। जीवन का लक्ष्य प्रभु-प्राप्ति हो। सब क्रियाएँ इसी उद्देश्य से की जाएँ। ३. **अग्नेः**=अग्रेणी प्रभु का तू **भस्म**=दीपन करनेवाला **असि**=है, अर्थात् तू अपने हृदय-मन्दिर में प्रभु की ज्योति को जगाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। ४. **अग्नेः पुरीषम् असि**=तू उस प्रभु के (पॄ पालनपूरणयोः) पालनात्मक कर्म को करनेवाला है। ५. इस पालनात्मक कर्म को करनेवाले तुम लोग **चितःस्थ**=ज्ञानी हो। ज्ञानी पुरुष ही ठीक

पालन कर पाता है, अज्ञान में तो वह भला करना चाहता हुआ भी बुरा कर बैठता है। ६. **परिचितः**=तुम लोगों के परिचयवाले बनते हो, उनकी मनोवृत्ति को समझते हो। मनोविज्ञान को न समझनेवाले व्यक्ति कल्याण करने के प्रकार में ग़लती कर जाते हैं। ७. **ऊर्ध्वचितः**= उत्कृष्ट ज्ञानवाले हो, अथवा ज्ञान के द्वारा लोगों को उत्कृष्ट स्थिति में प्राप्त करानेवाले हो। ८. **श्रयध्वम्**=(श्रिञ् सेवायाम्) तुम लोगों की सेवा करनेवाले बनो। लोकहित ही तुम्हारे जीवन का उद्देश्य हो।

भावार्थ—ज्ञानी बनो। प्रभु-प्राप्ति की कामना करो। ज्ञानी बनकर लोकसेवक बनो।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

विश्वामित्र

अयꣳसोऽअग्निर्यस्मिन्त्सोममिन्द्रः सुतं दधे जठरे वावशानः।
सहस्रियं वाजमत्यं न सप्तिꣳससवान्त्सन्त्स्तूयसे जातवेदः ॥४७॥

१. गत मन्त्र के 'श्रयध्वम्'—'सेवा करो'—इस उपदेश को क्रिया में लानेवाला सोमाहुति प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'विश्वामित्र' बन जाता है। यह सभी के साथ स्नेह करता है। २. **अयम्**=यह **सः अग्निः**=वह नेता होता है, **यस्मिन्**=जिसमें **इन्द्रः**=वह सर्वशक्तिमान् प्रभु **जठरे सुतम्**=जठर में उत्पन्न हुए **सोमम्**=सोम को **दधे**=धारण करता है। सोम की उत्पत्ति तो सभी में होती है, परन्तु उसका धारण सभी में नहीं होता। इसका धारण तो प्रभु-कृपा से ही होता है। प्रभु का स्मरण हमें वासनाओं से ऊपर उठाता है और हम सोम को सुरक्षित कर पाते हैं। इस सोमरक्षा से यह व्यक्ति भी इन्द्र=शक्तिशाली होता है। ३. **वावशानः**=सोम-रक्षा से शक्तिशाली बना हुआ यह सबका भला चाहनेवाला होता है (वश् कान्तौ) ४. यह अपने अन्दर **सहस्रियम्**=(स हस्) सदा उल्लासमय **वाजम्**=शक्ति को **दधे**=धारण करता है। सोम-रक्षा का यह परिणाम क्योंकर न होगा! ५. इस **अत्यं न सप्तिम्**=सतत गतिशील घोड़े के समान व्यक्ति को प्रभु **दधे**=धारण करते हैं। यह प्रभु की प्रजा का धारण करता है और प्रभु इसका धारण करते हैं। धारण के काम में लगा हुआ यह व्यक्ति सतत गतिशील होता है। ६. **ससवान्**=(ससं-अन्न-नि० २।६) यह सदा सस्य का सेवन करनेवाला होता है। 'विश्वामित्र' होता हुआ यह मांसाहार कर ही कैसे सकता है? ७. **जातवेदः**=उत्पन्न हुआ है ज्ञान जिसमें, ऐसा यह व्यक्ति **स्तूयसे**=सदा स्तुत होता है, लोग इसकी प्रशंसा ही करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण से हम सोम को सुरक्षित करनेवाले बनें, आनन्दमय शक्ति को धारण करें। अन्नसेवी बनकर ज्ञानी बनें और स्तुत्य जीवनवाले बनें।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

वह ज्ञान (सः भानुः)

अग्ने यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र।
येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः ॥४८॥

१. पिछले मन्त्र के अनुसार अन्नभोजन से यह विश्वामित्र स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मस्तिष्कवाला बनता है। उसी बात का ध्यान कराते हुए प्रभु इस विश्वामित्र से कहते हैं कि **अग्ने**=हे प्रजावर्ग की उन्नति के साधक! **यत्**=जो **ते**=तेरा **दिवि वर्चः**=मस्तिष्क में तेज

है, अर्थात् ज्ञान का प्रकाश है और **पृथिव्याम्** (पृथिवी शरीरम्)=शरीर में जो तेरा तेज है। २. **यत्**=जो तेज **ओषधीषु अप्सु**=ओषधियों व जलों के कारण है, अर्थात् वानस्पतिक भोजन व पानी के सेवन से जो तेज उत्पन्न हुआ है। ३. **येन**=जिस तेज से **उरु अन्तरिक्षम्**=विशाल हृदयाकाश को हे **यजत्र**=यज्ञों द्वारा अपना त्राण करनेवाले! **आततन्थ**=तू विस्तृत करता है, अर्थात् जिस तेज के कारण तू अपने हृदय को विशाल बनाता है, ४. **सः भानुः**=वह ज्ञान का प्रकाश **त्वेषः**=(त्विष दीप्तौ) तेरे शरीर को तेजस्वी बनानेवाला है **अर्णवः**=गतिवाला है (ऋ गतौ), अर्थात् तुझे क्रियामय जीवनवाला बनाता है तथा **नृचक्षाः**=मनुष्यों को दृष्टि देनेवाला है—उन्हें अपना मार्ग दिखानेवाला है अथवा मनुष्यों का पालन (look after) करनेवाला है।

भावार्थ—वनस्पतियों व जलों का सेवन मनुष्य के शरीर व मस्तिष्क दोनों को तेजस्वी बनाता है, उनके हृदयों को भी विशाल बनाता है। यह सात्त्विक भोजन वह दीप्ति देनेवाला है जो दीप्ति हमारे शरीर को तेजस्वी, क्रियामय व लोकहित-परायण बनाती है।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

परस्तात्-अवस्तात्

अग्ने दिवोऽअर्णमच्छा जिगास्यच्छा देवाँ२॥ऽऊचिषे धिष्ण्या ये।
या रोचने परस्तात् सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्तऽआपः॥४९॥

१. हे **अग्ने**=प्रजाओं की उन्नति के साधक ज्ञानिन्! तू **दिवः अर्णम्**=मस्तिष्क के जल की, अर्थात् ज्ञान की **अच्छ जिगासि**=ओर आता है, अर्थात् अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करता है। २. इस ज्ञान-प्राप्ति के लिए तू **देवान् अच्छ जिगासि**=देवों की ओर जाता है, विद्वानों के सम्पर्क में आता है। उन विद्वानों के सम्पर्क में आता है **ये**=जो **धिष्ण्या**=(दिधिषन्ति ब्रुवन्ति) ज्ञान के प्रतिपादन में उत्तम हैं। इन विद्वानों द्वारा **ऊचिषे**=ज्ञान दिया जाता है। ये ज्ञानी तुझे ज्ञान देते हैं। ३. ये ज्ञानी वे हैं **याः**=जो **आपः**=आप्त पुरुष होते हुए **रोचने**=ज्ञान द्वारा अन्धकार को दूर करके दीप्त करने में **सूर्यस्य परस्तात्**=सूर्य से भी परे हैं, अर्थात् सूर्य भौतिक संसार को उतना प्रकाशमय नहीं बनाता जितना कि ये आत्मिक संसार को प्रकाशमय बना देते हैं। ४. **याः च**=और ये ज्ञानी वे हैं जो **अवस्तात्**=अपने से निचले स्तरवाले लोगों को **उपतिष्ठन्ते**=सेवित करते हैं, अर्थात् जिन्हें सामान्यतः निचले स्तर पर समझा जाता है उन लोगों की ये सेवा करते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी लोग ज्ञान के दृष्टिकोण से सूर्य से भी ऊँचे होते हैं और सेवा करने के लिए अपने मापक को छोड़कर छोटे कहे जानेवाले लोगों में विचरते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

गुणाष्टक

पुरीष्यासोऽअग्नयः प्रावणेभिः सजोषसः।
जुषन्तां यज्ञमद्रुहोऽनमीवाऽइषो महीः॥५०॥

१. ये विश्वामित्र लोग **पुरीष्यासः**=(पॄ पालनपूरणयोः) पालन व पूरण के कार्य में उत्तम होते हैं। लोकहित के कार्यों में इन्हें आनन्द का अनुभव होता है। २. **अग्नयः**=ये अग्रेणी होते हैं—अपने को उन्नत करते हुए औरों के लिए मार्गदर्शक होते हैं। ३. **प्रावणेभिः**=(प्रुङ्

गतौ) गतिशील व्यक्तियों के साथ **सजोषसः** =मिलकर प्रीतिपूर्वक सेवा-कार्य करनेवाले होते हैं। 'ये औरों के साथ मिलकर कार्य न कर सकें' ऐसा नहीं। जहाँ भी लोगों में उत्साह व गति देखते हैं उनके साथ इनका पूर्ण सहयोग होता है। ४. ये लोग सदा **यज्ञम्**=श्रेष्ठतम कर्मों का ही **जुषन्ताम्**=सेवन करें। इनका जीवन ही यज्ञमय बन जाए। ५. **अद्रुहः**=ये किसी से द्रोह नहीं करते। इनके मन में किसी की हानि की भावना नहीं होती। ६. **अनमीवाः**=मन में हानि व हिंसा की भावना न होने से ही इनके शरीर पूर्ण नीरोग होते हैं, इनके शरीर में आधि-व्याधि नहीं होती। इनके शरीर अमीव-रोग से आक्रान्त नहीं होते। ७. ये स्वस्थ मन व स्वस्थ शरीरवाले व्यक्ति **इषः**=सभी को सुन्दर प्रेरणा देते हैं। सभी का उत्तमता से मार्ग-दर्शन करते हैं और ८. **महीः**=(मह पूजायाम्) ये सदा प्रभु की पूजा करनेवाले होते हैं। प्रभु-पूजा ही इनके जीवनों को सुन्दर बनानेवाली होती है।

भावार्थ—हम भी 'पुरीष्य-अग्नि-सजोषस्-यज्ञसेवी-अद्रुह-अनमीव-इष व मही' बनने का प्रयत्न करें। इन ८ गुणों का उपार्जन करके हम प्रभु-सम्पर्क के अधिकारी बनें। हमारे लिए ये ही योगमार्ग के आठ अङ्ग बन जाएँ।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

वेदवाणी

इडामग्ने पुरुदꣳसꣳसनिं गोः शश्वत्तमꣳहवमानाय साध।
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ॥५१॥

१. हे **अग्ने**=प्रकाश प्रदान करनेवाले परमात्मन्! **हवमानाय**=इस पुकारनेवाले—प्रार्थना करनेवाले विश्वामित्र के लिए **इडाम्**=वेदवाणी को **साध**=सिद्ध कीजिए, जो वेदवाणी (क) **पुरुदंसम्**=पालक व पूरक कर्मों का प्रतिपादन करती है (पुरूणि दंसानि कर्माणि या)। वस्तुतः वेदवाणी में ही तो सब कर्त्तव्य कर्मों का प्रतिपादन हुआ है। (ख) **सनिं गोः**=जो ज्ञान-रश्मियों को देनेवाली है। वेद द्वारा सारा ज्ञान व विज्ञान प्राप्त कराया जाता है। (ग) **शश्वत्तमम्**=जो वेदज्ञान अविनश्वर है अथवा (शश प्लुतगतौ) अधिक-से-अधिक क्रियाशील बनानेवाला है। २. हे प्रभो! यह वेदवाणी **नः**=हमें **सूनुः**=उत्तम कर्मों की प्रेरणा देनेवाली हो **तनयः**=हमारे शरीर की शक्तियों का विस्तार करनेवाली **स्यात्**=हो। **विजावा**=विविध शक्तियों के प्रादुर्भाववाली हो। इससे मानस व बौद्ध शक्तियों का भी उत्तम विकास हो। ३. हे प्रभो! **सा ते सुमतिः** =वह आपकी कल्याणी मति **अस्मे भूतु**=हमें भी प्राप्त हो। हम भी इस वेदज्ञान को प्राप्त करके शरीर, मन व बुद्धि का विकास करनेवाले हों।

भावार्थ—वेदज्ञान उत्तम कर्मों का प्रतिपादक है, ज्ञान-विज्ञान को बढ़ानेवाला है तथा हमें क्रियाशील बनानेवाला है। इसे प्राप्त करने से हम शारीर, मानस व बौद्धिक उन्नति करते हुए 'त्रिविक्रम' बनते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

प्रचारक

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातोऽअरोचथाः।
तं जानन्नग्नऽआ रोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥५२॥

१. **अयम्**=गत मन्त्र के अनुसार त्रिविध उन्नति करनेवाला **ते योनिः**=तेरा उत्पत्ति-स्थान व घर बनता है। इसके जीवन में प्रभु के प्रकाश का उदय होता है। २. **ऋत्वियः**=यह ऋतु

में होनेवाला होता है, अर्थात् प्रत्येक कार्य को अपने समय पर करता है। अथवा ऋतु के अनुकूल कार्यों को करनेवाला होता है। ३. हे प्रभो! यह 'विश्वामित्र' वह है **यतः**=जिससे **जातः**=प्रादूर्भूत हुए-हुए आप **अरोचथाः**=चमकते हो। आपका यह बड़ी सुन्दरता से प्रतिपादन करता है और वास्तव में तो इसका जीवन ही आपका प्रकाश करता है। ४. हे **अग्ने**=नेतृत्व करनेवाले विद्वन्! **तम्**=उस प्रभु को **जानन्**=जानते हुए आप **आरोह** =उन्नति-पथ पर आरूढ़ होओ। प्रभु का ज्ञान हमारे जीवनों को निश्चय से उन्नत करता है। ५. हे विद्वन्! स्वयं उन्नत होकर **अथ**=अब **नः**=हमारी **रयिम्**=ज्ञान-सम्पत्ति को **वर्धय**=बढ़ाइए।

भावार्थ—हमारा हृदय प्रभु के प्रकाशवाला हो। प्रभु का ज्ञान हमारे जीवनों को उन्नत करे। स्वयं उन्नत होकर हम औरों की ज्ञान-सम्पत्ति को भी बढ़ाएँ।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

चित्-परिचित् पत्नी

चिदसि तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद।
परिचिदसि तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥५३॥

१. घर में पत्नी भी ज्ञानादि प्राप्त करके प्रभु-स्मरणपूर्वक ध्रुव निवासवाली होती हुई लोककल्याण करनेवाली हो। उसके लिए कहते हैं कि **चित् असि**=तू संज्ञानवाली है—उत्तम ज्ञान को प्राप्त है। २. **तया देवतया**=उस सर्वव्यापक (तन्=विस्तार) दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के साथ **अङ्गिरस्वत्**=प्राणशक्तिवाली—एक-एक अङ्ग में रसवाली होती हुई तू **ध्रुवा सीद**=ध्रुव होकर रह। प्रभु से दूर न होने का यह स्वाभाविक परिणाम है कि हमारे अङ्ग सूखे काठ की भाँति नहीं हो जाते। प्रभु-स्मरण हमें जीवन में ध्रुवता प्राप्त कराता है, हमारा मन डाँवाँडोल नहीं रहता। ३. **परिचित् असि**=घर में सभी के स्वभाव को पहचाननेवाली है। ठीक बर्ताव के लिए स्वभाव को समझना आवश्यक होता है। स्वभाव को समझकर उत्तमता से बरतती हुई तू **तया देवतया**=उस सर्वव्यापक प्रभु के साथ रहती है—प्रभु का स्मरण बनाये रखती है। ऐसी तू **अङ्गिरसवत्**=एक-एक अङ्ग में रसवाली होती हुई **ध्रुवा सीद**=ध्रुव होकर रह।

भावार्थ—पत्नी संज्ञानवाली तथा स्वभाव के परिज्ञानवाली हो, प्रभु का स्मरण करनेवाली हो, जिससे शक्तिशाली बनी रहे। ध्रुवता से रहनेवाली हो। घर की मर्यादाओं का पालन करती हुई वह गृहस्थ की निरन्तर उन्नति का कारण बने।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

लोकं पृण, छिद्रं पृण

लोकं पृण छिद्रं पृणाथो सीद ध्रुवा त्वम् ।
इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन् योनावसीषदन् ॥५४॥

१. हे पत्नि! तू **लोकं पृण**=लोक को तृप्त करनेवाली हो। **छिद्रं पृण**=दोष को दूर करनेवाली हो—छेद को भर देनेवाली हो। आदर्श पत्नी अपने व्यवहार से असन्तोष पैदा करने का कारण नहीं बनती। घर में दोषों की वृद्धि नहीं होने देती। २. **अथ**=निश्चय से **त्वम्**=तू **ध्रुवा सीद**=ध्रुव होकर इस घर में बैठ। ध्रुवता के लिए दो बातें आवश्यक हैं—वह अपने व्यवहार से सभी को अप्रसन्न न कर ले तथा दोषों को ही न उघाड़ती फिरे। अपने मधुर

शब्दों व व्यवहारों से सभी को सन्तुष्ट रक्खे तथा दोषों को दूर करने का प्रयत्न करे। ३. **इन्द्राग्नी बृहस्पतिः**=इन्द्र, अग्नि और बृहस्पति **त्वा**=तुझे **अस्मिन् योनौ**=इस घर में अथवा सभी के उत्पत्ति स्थान प्रभु में **असीषदन्**=स्थित करें–बिठाएँ। 'इन्द्र' शब्द जितेन्द्रियता की सूचना देता है–इन्द्रियों का अधिष्ठाता ही 'इन्द्र' है। 'अग्नि' शब्द अग्रेणी को कहता हुआ अग्रगति=progress का बोध करा रहा है। 'बृहस्पति' ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का सूचक है। 'बृहस्पति' ब्रह्मणस्पति है–वेदज्ञान का पति है। एवं, पत्नि जितेन्द्रिय, उन्नति की भावनावाली तथा उच्च ज्ञान को प्राप्त करनेवाली होगी तभी वह घर में स्थिरतापूर्वक निवासवाली हो सकेगी।

भावार्थ–१. पत्नी घर में सभी को उत्तम भोजनादि व व्यवहार से तृप्त करनेवाली हो। २. दोषों का उद्घाटन न करती फिरे। ३. जितेन्द्रिय हो। ४. उन्नति की भावनावाली हो। तथा ५. ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करे।

ऋषिः–प्रियमेधाः। **देवता**–आपः। **छन्दः**–विराडनुष्टुप्। **स्वरः**–गान्धारः॥

सूददोहसः-पृश्नयः

ताऽअस्य सूददोहसः सोमꣳश्रीणन्ति पृश्नयः।
जन्मन्देवानां विशस्त्रिष्वा रोचने दिवः॥५५॥

गत मन्त्र में वर्णन किये जा रहे पत्नी के कर्त्तव्यों के विषय में ही कहते हैं कि **ताः**=वे **अस्य**=इस घर की–जिस घर में उन्होंने स्थिर होकर रहना है और जिस घर का उन्होंने निर्माण करना है **सूददोहसः**=पाचिका व दोहन करनेवाली हैं, अर्थात् भोजन बनाने व गोदोहन के कार्य को अपने पास ही रखेंगी। भोजन पर सब घरवालों का स्वास्थ्य निर्भर है और गौ को जितने प्रेम से पाला जाएगा उतना ही वह अधिक व उत्तम दूध देगी। २. ये गृहिणियाँ **सोमं श्रीणन्ति**=सौम्य भोजन का ही परिपाक करती हैं। आग्नेय भोजनों से क्रोधादि में वृद्धि होती है, मनोवृत्ति राजस् बनती है, अतः समझदार पत्नी सौम्य भोजन ही पकाती है। ३. पाचन व दोहन की क्रियाओं को करनेवाली गृहिणियाँ इन्हीं कार्यों में ही नहीं उलझी रह जातीं, अपितु **पृश्नयः**=(संस्पृष्टो भासा–नि० २।१४) ये ज्ञान की ज्योति से युक्त होती हैं। घर के कार्यों से निपटते ही ये स्वाध्याय में प्रवृत्त होती हैं और इस प्रकार निरन्तर अपने ज्ञान को बढ़ानेवाली होती हैं। ४. **देवानां जन्मन्**=दिव्य गुणोंवाले सन्तानों को जन्म देने के निमित्त ये **त्रिषु विशः**=तीनों में प्रवेश करनेवाली होती हैं। शरीर, मन व बुद्धि तीनों का ही ये विकास करती हैं। नीरोगता के लिए शरीर का विकास, निर्मलता के लिए मन का विकास और बुद्धि की तीव्रता के लिए मस्तिष्क का विकास आवश्यक है। त्रिविध उन्नति को प्राप्त माता ही 'त्रिविक्रम' सन्तान को जन्म दे पाएगी। ५. इस प्रकार त्रिविध उन्नति में लगी हुई माता **दिवः आरोचने**=मस्तिष्करूप द्युलोक के आरोचन में प्रवृत्त होती है। यह ज्ञान-विज्ञान से अपने मस्तिष्क को दीप्त करती है। इसके मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान का सूर्य चमकता है तो विज्ञानरूप नक्षत्र भी इसके आरोचन (adornment) का कारण बनते हैं।

भावार्थ–पत्नी ने घर के कार्यों के साथ ज्ञान की ज्योति को प्रज्वलित करने का प्रयत्न करना है। पत्नी पकाये, दूध दुहे और पढ़े। दिव्य सन्तानों के जन्म देने का यही उपाय है कि शरीर, मन व बुद्धि के विकास की ओर ध्यान दिया जाए। मस्तिष्करूप द्युलोक को

आरोचित करना पत्नी का मुख्य उद्देश्य हो। इसी उद्देश्य से वह सदा सौम्य भोजनों का परिपाक करे। ज्ञान-प्राप्ति को मुख्यता देनेवाली यह सचमुच 'प्रियमेधाः' है।

ऋषिः—सुतजेतृमधुच्छन्दाः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

समुद्रव्यचसं प्रभु

इन्द्रं विश्वाऽअवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः।
रथीतमꣳरथीनां वाजानाꣳसत्पतिं पतिम्॥५६॥

१. गत मन्त्र की मूल भावना यह है कि एक आदर्श गृहिणी ने अपना मन 'पाचन, गोपालन व पठन' में लगाना है। इस प्रकार उत्तम इच्छाओं के बनाये रखने के लिए मन का विजय अत्यन्त आवश्यक है। मनो-विजय के बिना यह सम्भव नहीं। मन का जीतनेवाला ही 'जेता' है। यह सदा **माधुच्छन्दस्**=अत्यन्त उत्तम इच्छाओंवाला होता है। २. ऐसा बना रहने के लिए यह प्रभु-स्तवन करता है और कहता है कि **विश्वः गिरः**=वेद की सब वाणियाँ **इन्द्रम्**=परमात्मा को **अवीवृधन्**=बढ़ाती हैं—उस प्रभु की स्तुति करती हैं जो प्रभु ३. **समुद्रव्यचसम्**=सदा आनन्दमय है (स+मुद्) तथा अधिक-से-अधिक **सम्**=विस्तारवाले हैं। वस्तुतः 'यो वै भूमा तत्सुखम्'=विस्तार ही आनन्द है। ४. **रथीनाम्**=रथवालों में **रथीतमम्**=सर्वोत्तम रथवाले हैं। इस प्रभु के रथ में बैठकर ही हम भी अपनी जीवन-यात्रा को सहज में पूरा कर सकते हैं। ५. **वाजानां पतिम्**=वे प्रभु सब वाजों=शक्तियों व ज्ञानों के **पतिम्**=पति हैं। वे प्रभु सर्वशक्तिमान् व सर्वज्ञ हैं। हमारा भला करने में वे पूर्ण समर्थ हैं ६. **सत्पतिम्**=वे प्रभु सदा सज्जनों के रक्षक हैं। हम सत् बनें प्रभु हमारे रक्षक होंगे। 'सत्' बनने का संकेत यह है कि (क) **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय बनो। (ख) **समुद्रव्यचसम्**=सदा आनन्द में रहो तथा दिल को छोटा न करो। (ग) **रथीतमम्**=इस शरीर को प्रभु का दिया हुआ रथ समझें और इसे ठीक रखते हुए इसके द्वारा पार पहुँचने पर पीड़ित लोगों का दुःख दूर करने में प्रवृत्त हों।

भावार्थ—इस वासनामय जगत् में प्रभु का नाम-स्मरण ही हमें जेता बनाता है। उस प्रभु को ही हम अपना रथ जानें। वे प्रभु ही सत्पति हैं, वाजपति हैं। प्रभु-सम्पर्क से ही हमें शक्ति प्राप्त होती है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

एकत्व का संकल्प

समितꣳसं कल्पेथाꣳसंप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ।
इषमूर्जमभि संवसानौ॥५७॥

१. 'प्रभु का स्तवन करते हुए ये पति-पत्नी क्या करें?' प्रभु कहते हैं कि **समितम्**=सं इतम्=मिलकर चलने का **संकल्पेथाम्**=संकल्प करें। इनके कर्म कभी विरोधी न हों। २. **संप्रियौ**=ये परस्पर उत्तम प्रेमवाले हों। ३. **रोचिष्णू**=संसार में शोभावाले हों। परस्पर प्रेम होने पर ही इनकी शोभा होती है। ४. **सुमनस्यमानौ**=सदा उत्तम मनवालों की भाँति आचरण करनेवाले, शुभ चिन्तन करनेवाले तुम होओ। ५. इस मन की उत्तमता के लिए (क) **इषम्**=अन्न को तथा **ऊर्जम्**=रस को **अभिसंवसानौ**=(अभ्यवहरन्तौ—उ०) सेवन करनेवाले बनो। अन्न-रस का सेवन ही हमें धर्म में स्थिर गति प्राप्त कराता है। आहारशुद्धि सत्त्वशुद्धि का कारण है। अथवा (ख) **इषम्**=उस प्रभु की प्रेरणा को तथा **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति

को **अभिसंवसानौ**=सम्यक्तया धारण करनेवाले बनो। उस प्रभु की प्रेरणा को सुनो। उसके अनुसार चलने से तुम्हें बल व प्राणशक्ति प्राप्त हो।

भावार्थ—'मधुच्छन्दा'=उत्तम इच्छाओंवाले पति-पत्नी १. मिलकर चलते हैं २. परस्पर प्रेमवाले होते हैं ३. शोभा देनेवाले कार्यों को ही करते हैं ४. उत्तम मनवाले होते हैं ५. अन्न-रस का सेवन करते हैं अथवा प्रभु की प्रेरणा को सुनकर बल व प्राणशक्ति को धारण करते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगुपरिष्टाद्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

मनों, व्रतों व चित्तों की एकता

सं वां मनांꣳसि सं व्रता समु चित्तान्याकरम्।
अग्ने पुरीष्याधिपा भव त्वं नऽइषमूर्जं यजमानाय धेहि ॥५८॥

१. **वाम्**=तुम दोनों के **मनांसि**=मनों को **सम् आकरम्**=सङ्गत करता हूँ। तुम्हारे मन मिले हुए हों। उनमें परस्पर विरोध व वैमनस्य न हो। २. **वाम्**=तुम दोनों के **व्रता**=व्रतों को **सम् आ अकरम्**=एक करता हूँ। **'नियमः पुण्यकं व्रतम्'**=नियम ही व्रत हैं—दोनों के नियम एक-से हों। यदि एक-दूसरे के नियम परस्पर विरुद्ध होंगे तो घर कैसे चल पाएगा? ३. **उ**=और **चित्तानि**=तुम्हारे चित्तों को **सम् आकरम्** =मेलवाला करता हूँ। ४. अब पति के लिए विशेषरूप से कहते हैं कि हे **अग्ने**=सब घर की उन्नति करनेवाले ! **पुरीष्यम्**=पालन करनेवालों में उत्तम! **त्वम्**=तू **नः अधिपाः**=हम सब घरवालों का अधिष्ठाता व रक्षा करनेवाला **भव**=हो। 'पति' शब्द का अर्थ ही रक्षा करनेवाला है। इसने अपने पति नाम को चरितार्थ करने के लिए गृहरक्षा के भार को अपने कन्धे पर लेना है। **यजमानाय**=अपने सम्पर्क में आनेवाले के लिए तू **इषम्**=अन्न को **ऊर्जम्**=रस को **धेहि**=धारण करनेवाला बन। घर के सभी सभ्यों को उचित खान-पान प्राप्त कराने का बोझ गृहपति के कन्धों पर ही होता है। घर में पत्नी है, सन्तान हैं, माता-पिता व अन्य आये-गये जो भी बन्धु हैं, सभी के भोजन का भार इसी ने वहन करना है। **यज**=(सङ्गतीकरण)

भावार्थ—पति-पत्नी के मन, व्रत व चित्त मिले हुए हों। पति 'अग्नि व पुरीष्य' होता हुआ गृह-रक्षक बने। घर में किसी को खान-पान में कमी न रह जाए।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

शिव-ही-शिव

अग्ने त्वं पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिमाँ२॥ऽअसि।
शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहासदः ॥५९॥

पिछले मन्त्र की भावना को ही विस्तार से कहते हैं—१. **अग्ने**=हे घर की उन्नति के साधक पुरुष! **त्वम्**=तू **पुरीष्यः**=पालन करनेवालों में उत्तम है। २. **रयिमान्**=धनवाला है। बिना धन के यह पालन कैसे कर सकेगा? ३. **पुष्टिमान् असि**=तू पुष्टिवाला है। स्वयं निर्बल होने पर वह औरों के पालन के बोझ को अपने कन्धों पर कैसे ले सकता है? ४. तू **सर्वाः दिशः शिवाः कृत्वा**=सब दिशाओं को कल्याणमय करके, अर्थात् सब दृष्टिकोणों से घर का कल्याण सिद्ध करके **इह**=यहाँ **स्वं योनिम्**=अपने घर में **आसदः**=आसीन हो। खान-पान, वस्त्र-शिक्षा व घर की अन्य सब आवश्यकताओं के दृष्टिकोण से घर में किसी

प्रकार की कमी न हो। यह सब दिशाओं का शिव करना है। यदि कोई बच्चा भूख से रो रहा हो, दूसरा ठण्ड में वस्त्राभाव से ठिठुर रहा हो और कोई बीमारी में औषध न मिल सकने से परेशान हो और चौथा स्कूल की फ़ीस के लिए आग्रह कर रहा हो तो यह घर तो सब दिशाओं में अशिव-ही-अशिववाला हो जाएगा। घर को मङ्गलमय बनाना पति का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए।

भावार्थ—गृह के मुखिया को 'रयि व पुष्टिमान्' होना चाहिए, जिससे घर में सर्वत्र शिव-ही-शिव हो।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—दम्पती। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

प्रभु का बनने का उपाय

भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ।
मा यज्ञꣳहिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः॥६०॥

प्रभु कहते हैं कि १. **भवतं नः**=हे पति-पत्नी तुम दोनों हमारे बनकर रहो। २. हमारे बनने का उपाय यह है कि तुम **समनसौ**=समान मनवाले होओ। तुम्हारी इच्छाएँ एक-सी हों। दो पात्रों के जलों के मिलने की भाँति तुम्हारे मन मिल जाएँ। ३. तुम **सचेतसौ**=एक ही इष्टदेव का ध्यान करनेवाले होओ। तुम्हारा ज्ञान एक-सा हो। ४. **अरेपसौ**=तुम दोषरहित होकर क्रमशः पत्नीव्रत व पतिव्रत के पालन करनेवाले बनो। ५. अपने इस गृहस्थ जीवन में **यज्ञं मा हिंसिष्टम्**=यज्ञ की हिंसा न करो। तुम्हारा यज्ञ निर्विघ्न व अविच्छिन्न बना रहे। ६. **यज्ञपतिम्**=यज्ञों के रक्षक प्रभु को **मा**=मत हिंसित करो। प्रभु को भूलकर अपने को ही यज्ञों का करनेवाला मत समझ बैठो। ये सब उत्तम कार्य तो तुम्हारे माध्यम से प्रभु ही कर रहे हैं। ७. **जातवेदसौ** (वेदस्=wealth)=गृहस्थ के सञ्चालन के लिए उत्पन्न किये हुए धनवाले बनो, अर्थात् स्वयं पुरुषार्थ से धन कमानेवाले बनो। ८. **शिवौ भवतम्**=धन कमाकर लोककल्याण करनेवाले बनो। धन के मद में औरों का अशुभ न करो। ९. ऐसा करते हो तो **अद्य**=आज तुम **नः**=हमारे हुए हो। प्रभु का बनने के लिए 'समनसौ, सचेतसौ, अरेपसौ, यज्ञाहिंसकौ, यज्ञपतिस्मर्तारौ, जातवेदसौ व शिवौ' बनना है।

भावार्थ—प्रभु के वे ही बनते हैं जो पति-पत्नी समान मनवाले, समान चित्तवाले, निर्दोष, यज्ञशील, प्रभु के प्रति अपने को अर्पण करनेवाले, धन को उत्पन्न करनेवाले व कल्याणकर होते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—पत्नी। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

पत्नी-पति एक-दूसरे का ध्यान करें

मातेव पुत्रं पृथिवी पुरीष्यमग्निꣳस्वे योनावभारुखा।
तां विश्वैर्देवैर्ऋतुभिः संविदानः प्रजापतिर्विश्वकर्मा वि मुञ्चतु॥६१॥

पत्नी के लिए कहते हैं कि १. **उखा**=जिसके हृदय से वासना का उत्खनन हो गया है (उत्खन्यते) अर्थात् जिसका हृदय पवित्र है, वह **पृथिवी**=विशाल हृदयवाली पत्नी **पुरीष्यम्**=पालन करनेवालों में उत्तम **अग्निम्**=घर की उन्नति के साधक पति को **स्वे योनौ**=अपने घर में इस प्रकार उत्तम भोजनादि से **अभाः**=भृत व पोषित करती है **इव**=जैसे **माता पुत्रम्**=माता पुत्र को। माता पुत्र का अधिक-से-अधिक ध्यान करती है, इसी प्रकार पत्नी ने पति का ध्यान करना है। पति घर के पालन-पोषण के लिए धन कमाने में लगा हुआ

है, उसका यह कार्य तभी ठीक प्रकार से चल सकता है जब पत्नी उसके उचित भोजनादि का ध्यान करते हुए उसे अस्वस्थ व चिन्तित न होने दे।

पति के लिए कहते हैं कि २. **ताम्**=उस पत्नी को **विश्वैः देवैः ऋतुभिः संविदानः**=सब देवों व ऋतुओं से संज्ञान प्राप्त करता हुआ, अर्थात् उनकी अनुकूलता को सिद्ध करता हुआ, अतएव पूर्णतया स्वस्थ पति **प्रजापतिः**=प्रजा व सन्तान की रक्षा करता हुआ **विश्वकर्मा**=जीविकोपयोगी सब कार्यों को करनेवाला बनकर **विमुञ्चतु**=नमक, तेल व ईंधन आदि की चिन्ता से मुक्त कर दे। यहाँ यह स्पष्ट है कि (क) माता को नमक आदि की चिन्ता न करनी पड़े, उसे धनार्जन के लिए समय न देना पड़े। (ख) पति अस्वस्थ न हो। ऐसा होने की अवस्था में पत्नी का सारा समय उसकी सेवा में ही समाप्त हो जाएगा और वह बच्चों का ध्यान न कर पाएगी। (ग) स्वास्थ्य के लिए सूर्य, वायु आदि देवों की व ऋतुओं की अनुकूलता आवश्यक है।

भावार्थ—पत्नी पति की आवश्यकताओं का पूर्ण ध्यान करे। पति स्वस्थ रहता हुआ और उचित धनार्जन करता हुआ पत्नी पर घर की चिन्ता का भार न पड़ने दे।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—निर्ऋतिः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

निर्ऋति का मार्ग

असुन्वन्तमयजमानमिच्छ स्तेनस्येत्यामन्विहि तस्करस्य।
अन्यमस्मदिच्छ सा तऽइत्या नमो देवि निर्ऋते तुभ्यमस्तु॥६२॥

१. 'निर्ऋति' शब्द निरुक्त २।८ के अनुसार 'कृच्छ्रापत्ति'=मुसीबत का बोधक है। 'पाप्मा वै निर्ऋतिः' श० ७।२।१।११ 'घोरा वै निर्ऋतिः'—श० ७।२।१।११—इन शतपथ वाक्यों से भी वही भाव व्यक्त हो रहा है। इस 'निर्ऋति' को पुरुषविध (personify) करके सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि हे **निर्ऋते**=दुर्गते! तू **इच्छ**=इच्छा कर। किसकी? (क) **असुन्वन्तम्**=सोमाभिषव न करनेवाले की। 'जो सोमयज्ञ नहीं करता' उस पुरुष की तू कामना कर। बड़े-बड़े यज्ञ, जिनमें सोमाहुति दी जाती है, सोमयज्ञ कहलाते हैं। 'असुन्वन्त' की भावना हृदयदेश में सोम-प्रभु का ध्यान न करनेवाले की भी है। जो प्रभु का ध्यान नहीं करते वे दुर्गति में पड़ते ही हैं। (ख) **अयजमानम्**=हे निर्ऋते! तू अयजमान की कामना कर। तेरा आक्रमण यज्ञ न करनेवाले पर हो। 'देवपूजा, सङ्गतीकरण व दान' से दूर रहनेवाला पुरुष ही दुर्गति को प्राप्त करे। २. हे निर्ऋते! तू **इत्याम् अनु इहि**=मार्ग के पीछे जा। किस मार्ग के? उस मार्ग के (क) **स्तेनस्य**=गुप्त चोर के पीछे। जो रात्रि के समय सेंध आदि लगाकर दूसरों के धन को चुराता है, वह दुर्गति को प्राप्त करे। (ख) **तस्करस्य**=प्रकट चोर के मार्ग के पीछे तू जा। लुटेरे-डाकुओं को दुर्गति प्राप्त हो। ३. **अस्मत् अन्यम्**=हम जो कि 'सोमाभिषव करनेवाले, यज्ञशील, अस्तेय धर्म का पालन करनेवाले, अहिंसक' हैं उनसे भिन्न व्यक्ति ही **इच्छ**=तेरी कामना का विषय बने। **सा ते इत्या**=वही तेरा मार्ग है, अर्थात् तुझे तो 'परमेश्वर को न माननेवाले अयज्ञशील, चोर व डाकुओं' के मार्ग पर ही जाना है। तेरे दण्डनीय वे ही व्यक्ति हैं। ४. हे **देवि**=दण्ड के द्वारा दमन करके सबको शुभ मार्ग पर लानेवाली कष्टदेवि! **तुभ्यं नमः अस्तु**=हम तुझे नमस्कार करते हैं। 'सम्यक् प्रणीत हुआ दण्ड सब प्रजाओं का रञ्जन करता है। एवं, प्रभु से दी गई आपत्तियाँ भी विशेष महत्त्व रखती हैं। वे मानव-जीवन के सुधार के लिए आवश्यक हैं।

भावार्थ—दुर्गति के भागी वे होते हैं जो प्रभु का ध्यान नहीं करते, यज्ञशील नहीं होते, चोरी व डाका जिनका पेशा बन जाता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—निर्ऋतिः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

'यम-यमी' व निर्ऋति

नमः सु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयं विचृता बन्धमेतम्।
यमेन त्वं यम्या संविदानोत्तमे नाकेऽअधि रोहयैनम्॥६३॥

१. हे **तिग्मतेजः**=तीव्र तेजवाली **निर्ऋते**=आपत्ते! हम **ते**=तेरे लिए **सु**=उत्तमता से **नमः**=नतमस्तक होते हैं। तू **एतम्**=इस **अयस्मयं बन्धनम्**=लोहमय बन्धन को **विचृत**=छिन्न कर दे। आपत्ति व कष्ट का दर्शन यह है कि यह आपत्ति मनुष्य को पाप के बन्धन से मुक्त करने के लिए आती है। 'साम, दाम, भेद, दण्ड' ये चार ही उपाय हैं। जब इनमें से प्रथम तीन उपायों से कार्य नहीं चलता तब प्रभु 'दण्ड' रूप चौथे उपाय का प्रयोग करते हैं। इन्हीं दण्डों को हम कष्ट व आपत्ति कहते हैं। इस आपत्ति का तेज अत्यन्त तीव्र है। यह हमारे लोहे के समान दृढ़ विषय-बन्धनों को भी काट देता है। २. यह निर्ऋति=कृच्छ्रापत्ति उन्हीं को पीड़ित नहीं करती जिनका जीवन संयमी होता है। उनके साथ तो मानो आपत्ति का समझौता-सा हुआ हो। हे निर्ऋते! **त्वम्**=तू **यमेन**=संयमी जीवनवाले पुरुष से तथा **यम्या**=संयमी जीवनवाली स्त्री से **संविदाना**=संज्ञान व समझौते को प्राप्त हुई **एनम्**=इसे **उत्तमे नाके**=सर्वोत्कृष्ट स्वर्ग में **अधिरोह**=स्थापित कर। वस्तुतः संयम ही वह गुण है जो हमें कष्टों से बचाकर सुखमय स्थिति में रखता है।

भावार्थ—प्रभु के दण्ड भी आदरणीय हैं। वे हमें विषयों के लोह-समान दृढ़ बन्धनों से भी मुक्त करते हैं। विषयों से मुक्त होकर संयमी जीवनवाले बनकर ही हम स्वर्ग के अधिकारी होते हैं।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—निर्ऋतिः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

कष्ट का उद्देश्य—बन्धावसर्जन

यस्यास्ते घोरऽआसन् जुहोम्येषां बन्धानामवसर्जनाय।
यां त्वा जनो भूमिरिति प्रमन्दते निर्ऋतिं त्वाहं परि वेद विश्वतः॥६४॥

१. प्रभु निर्ऋति से कहते हैं कि **एषाम्**=इन **बन्धानाम्**=बन्धों के **अवसर्जनाय**=छुड़ाने के लिए **यस्याः ते**=जिस तेरे **घोरे आसन्**=भयंकर मुख में **जुहोमि**=इन प्राणियों की मैं आहुति देता हूँ, अर्थात् मैं प्राणियों को कष्ट केवल इसलिए प्राप्त कराता हूँ कि वे विषयों के बन्धन से मुक्त हो जाएँ। विषयभोग का परिणाम रोग है। यह अनुभव लेकर ही तो वे विषयों से भयभीत होते हैं और उनसे दूर होते हैं। २. **यां त्वा**='जिस तुझमें **जनः**=मनुष्य **भूमिः इति**=(भवन्ति भूतानि यस्याम्) पड़ते ही हैं' इस प्रकार **प्रमन्दते**=स्तुति करता है, अर्थात् मनुष्य सोचता है कि आपत्ति तो सबपर आती ही है, उससे तो कोई बच ही नहीं सकता। ३. परन्तु **अहम्**=मैं (प्रभु) **त्वा**=तुझे **विश्वतः**=सब दृष्टिकोणों से **निर्ऋतिं परिवेद**=दुर्गति के रूप में जानता हूँ। वस्तुतः दुर्गति=दुराचार के कारण ही तो होती है। दुराचार न होगा तो कष्ट भी क्यों होंगे? निर्ऋति का तो शब्दार्थ ही दुराचार है। दुराचार का परिणाम कष्ट है, अतः निर्ऋति 'कष्ट' बोधक हो गया है। यह समझकर कि 'ये तो होते

ही हैं', मनुष्य इनको दूर करने के लिए अपने आचरण को नहीं सुधारता। यह सुधार तो तभी आएगा जब मनुष्य कष्ट को दुराचार के परिणामरूप में देखेगा। इन शब्दों में प्रभु जीव से यह कहते प्रतीत होते हैं कि हे मनुष्य! तू कष्टों को भाग्य का खेल न समझ, ये तो निश्चितरूप से पाप का ही परिणाम हैं। तू पाप से ऊपर उठ, कष्टों से स्वतः ऊपर उठ जाएगा। विषय-बन्धनों के हटाने के लिए ही मैं तुझे आपत्ति के मुख में धकेलता हूँ।

भावार्थ—प्रभु से दिये गये सब दण्ड सुधारात्मक हैं। 'वे अवश्य आते ही हों' ऐसी बात नहीं हैं। मनुष्य का आचरणदोष होने पर ही वह निर्ऋति से आक्रान्त होता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—यजमानः। **छन्दः**—आर्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

निर्ऋति का पाश, निर्ऋति व भूति

यं ते देवी निर्ऋतिराबबन्ध पाशं ग्रीवास्वविचृत्यम्। तं ते विष्याम्यायुषो न मध्यादथैतं पितुमद्धि प्रसूतः। नमो भूत्यै येदं चकार॥६५॥

१. निर्ऋति=कृच्छ्रापत्ति=कष्ट की प्राप्ति भी 'देवी' है, क्योंकि यह मनुष्य को बुराइयों से हटाकर अच्छाइयों में प्रवृत्त करती है। प्रभु कहते हैं कि हे जीव! यह **देवी निर्ऋतिः**=दिव्य गुणों को प्राप्त करानेवाली कृच्छ्रापत्ति **ते ग्रीवासु**=तेरी गर्दन में **यम्**=जिस **अविचृत्यम्**=अच्छेद्य **पाशम्**=बन्धन को **आबबन्ध**=बाँधती है, **ते**=तेरे **तम्**=उस बन्धन को **विष्यामि**=मैं समाप्त करता हूँ, जिससे **आयुषो न मध्यात्**=जीवन के मध्य से ही तू चला न जाए। असह्य कष्ट से कहीं मनुष्य अपने को समाप्त ही न कर ले, अतः प्रभु कहते हैं कि मैं तुझे कष्ट में तो डालता हूँ, परन्तु इतना भी अच्छेद्य कष्ट नहीं दे देता कि कहीं तू जीवन को भार समझने लगे और उसे समाप्त ही कर डाले। निरन्तर कष्टों से आयुष्य भी तो क्षीण हो जाता है। २. **अथ**=अब, एक बार कष्ट का अनुभव ले-लेने के बाद तो **प्रसूतः**=वेदवाणी द्वारा प्रेरणा दिया हुआ तू **पितुम्**=अन्न को **अद्धि**=खा, क्योंकि इस अन्न से ही मन बनेगा। सात्त्विक अन्न से मन भी सात्त्विक बनेगा। **'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'**। ३. सात्त्विक अन्तः-करणवाला बनकर यह 'मधुच्छन्दाः' कह उठता है कि **भूत्यै**=परमेश्वर के उस ऐश्वर्य व महिमा के लिए **नमः**=हम नतमस्तक होते हैं **या**=जो प्रभु का ऐश्वर्य **इदम्**=इस अद्भुत संसारक्रम को **चकार**=बनाता है। जीवन का सामान्य क्रम यही होता है कि (क) मनुष्य विषयों की ओर झुकता है। (ख) कष्ट भोगता है। (ग) वास्तविकता को जानकर फिर विषयों से ऊपर उठ जाता है और सात्त्विक अन्न का प्रयोग करते हुए चित्तवृत्ति को सात्त्विक बना लेता है। बन्धन समाप्त हो जाते हैं। निर्ऋति का बन्धन तो विषयों से ऊपर उठाने के लिए ही है। एवं, प्रभु का दिया दण्ड भी हमारी अमरता के लिए ही है। **'मृत्युः अमृतम्'**=मृत्यु भी अमृत है, निर्ऋति भी भूति (कल्याण) हो जाती है।

भावार्थ—कष्टों का पाश सुगतमा से नहीं टूटता। यह तो विषय-पाश के छिन्न होने से ही छिन्न होगा। विषय-निवृत्ति कष्ट-निवृत्ति का कारण है।

ऋषिः—विश्वावसुः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

'विश्वावसु' का जीवन

निवेशनः सङ्गमनो वसूनां विश्वा रूपाऽभिचष्टे शचीभिः।
देवऽइव सविता सत्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे पथीनाम्॥६६॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु से दी गई 'निर्ऋति'=कृच्छ्रापत्ति भी जीव की 'भूति'

का कारण बन जाती है। जीवन के अन्दर सब उत्तम गुणों को प्राप्त करके यह व्यक्ति 'विश्वावसु' बन जाता है–'सम्पूर्ण उत्तम ऐश्वर्योंवाला' अथवा 'विश्व को ही अपने में बसानेवाला'। यहीं से प्रस्तुत मन्त्र का प्रारम्भ होता है कि **निवेशनः** (निविशन्ते अस्मिन्)=इसमें सभी प्राणियों का समावेश हो जाता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का माननेवाला तो यह हो ही गया है। २. **सङ्गमनः**=सबके साथ मिलकर चलता है। यह विरोध की भावना को पैदा नहीं करता। इसकी क्रियाएँ वैर को दूर करके मेल करनेवाली होती हैं। ३. **शचीभिः**=अपने प्रज्ञानों व कर्मों से यह **वसूनाम्**=निवास के लिए आवश्यक धनों के **विश्वा रूपा**='अन्न-वस्त्र-गृह-पशु' आदि सब रूपों को **अभिचष्टे**=देखता है, अर्थात् यह अपने जीवन में बुद्धिपूर्वक कर्म करता हुआ निवास के लिए आवश्यक विविध वस्तुओं को जुटानेवाला होता है। यह अन्याय्य उपायों से धनों के संग्रह में नहीं लगता। ४. इस प्रकार यह **देवः इव**=देवता-सा प्रतीत होने लगता है। लोग ऐसा अनुभव करते हैं और कहते हैं कि 'यह मनुष्य थोड़े ही है, यह तो देवता है'। ५. **सविता**=यह सदा ('सु'=sow उत्पादन) निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त रहता है–उत्तम गुणों के बीजों को ही सर्वत्र बोने का ध्यान करता है। ६. **सत्यधर्मे**=सदा सत्य-धारणात्मक कर्मों को करनेवाला होता है। ७. **इन्द्रः न**=इन्द्र के समान यह बन जाता है। प्रभु तो परमेश्वर्यशाली हैं ही, यह भी प्रभु का ही एक छोटा रूप प्रतीत होने लगता है, जितेन्द्रिय बनकर इसने त्रिभुवन को ही जीत लिया है। ८. यह **समरे**=आध्यात्मिक संग्राम में **पथीनाम्**=काम-क्रोधादि वैरियों का **तस्थौ**=डटकर मुकाबला करता है, उनसे पराजित नहीं होता। वस्तुतः इसीलिए तो यह 'विश्वावसु' बना है।

भावार्थ–हम सभी संसार को अपनी 'मैं' में समाविष्ट करनेवाले बनें। काम-क्रोधादि को जीतें और अपने पिता प्रभु के अनुरूप होने का प्रयत्न करें।

ऋषिः–विश्वावसुः। **देवता**–कृषीवलाः कवयो वा। **छन्दः**–गायत्री। **स्वरः**–षड्जः॥

धीर कृषक

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक्। धीरा देवेषु सुम्नया ॥६७॥

१. गत मन्त्र में प्रज्ञापूर्वक कर्मों से धनों के अर्जन का उल्लेख है। सबसे अधिक समझदारी व ईमानदारी का काम 'कृषि' है। प्राचीन संस्कृति में वैश्य के कर्मों का प्रारम्भ 'कृषि' से ही था–**'कृषिगोरक्षवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्'**। वेद में कृषि को ही निर्माणात्मक कर्मों का प्रतीक माना गया है **'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व'**, अतः विश्वावसुओं के कृषिकर्म का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि २. **कवयः**=क्रान्तदर्शी व गहराई तक सोचनेवाले पुरुष जीवन-यात्रा के लिए **सीराः**=हलों को **युञ्जन्ति**=जोड़ते हैं। वस्तुतः यह कृषिकर्म अधिक-से-अधिक निर्दोष व अत्यन्त आवश्यक कर्म है–(क) इसमें एक मनुष्य पूर्ण परिश्रम से ही कमाई करता है। (ख) इसमें समाज में बेकारी का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। (ग) धनों के केन्द्रित हो जाने का भय भी उत्पन्न नहीं होता। (घ) उचित व्यायाम के कारण शरीर भी दृढ़ बना रहता है। (ङ) खुली वायु में रहने का प्रसङ्ग बना रहता है। (च) भूमि माता से व प्रकृति से हमारा सम्पर्क रहता है। उत्पन्न हुए विविध अन्न व वनस्पतियों में प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है। ३. इन सब कारणों से ही **धीराः**=ये धीर विद्वान् **पृथक्**=अलग-अलग **युगा वितन्वते**=जुओं का विस्तार करते हैं। **देवेषु**=इन्हीं पृथिवी, जल व वायु आदि में ही, अर्थात् इन्हीं के सहारे **सुम्नया**=सुख की प्राप्ति के हेतु से वे कृषि करते हैं, देवों से उनका सम्पर्क बना रहता है। यह देवसम्पर्क

ही वस्तुतः उन्हें धीर बनाता है। ये बहादुर=brave होते हैं, स्थिर steady वृत्ति के बनते हैं, दृढ़निश्चयी strong minded होते हैं, शान्त composed होते हैं, गम्भीर grave बनते हैं, शक्तिशाली energetic होते हैं, समझदार sensible बनते हैं, शिष्टाचारवाले well behaved होते हैं (निरभिमानता के कारण) सभ्य gentle और सदा भद्रता से पेश आते हैं। ४. (क) मन्त्रार्थ में 'पृथक्' शब्द सामूहिक कृषि का कुछ विरोध-सा कर रहा है। सामूहिक कृषि में आलस्य की भावना तो उत्पन्न हो ही सकती है, अतः सभी को अपना कार्य स्वयं करना है। (ख) कृषक जीवन हमें 'धीर' बनाता है। धीर का विस्तृत अर्थ ऊपर अंक '३' में दिया गया है। कृषि उन्हीं को धीर बनाती है जो कवि=विद्वान् हों। आजकल ग़लती से हम कृषि को मूर्खों का पेशा समझ बैठे हैं। मूर्ख कृषि से जीवन का ऐसा निर्माण नहीं कर सकते।

भावार्थ—हम कवि बनकर कृषि करें। यह कृषि हमें धीर बनाएगी और हमारा जीवन सुखमय हो जाएगा।

ऋषिः—विश्वावसुः। **देवता**—कृषीवलाः कवयो वा। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वेदानुकूल कृषि

युनक्त॒ सीरा॒ वि युगा त॑नुध्वं कृ॒ते योनौ॑ वपते॒ह बीज॑म्।
गि॒रा च॑ श्रु॒ष्टिः सभ॑रा॒ असन्नो॒ नेदी॑य॒ऽइत्सृ॒ण्यः॒ प॒क्वमेया॑त्॥६८॥

१. पिछले मन्त्र की कृषि का ही उल्लेख करते हुए कहते हैं कि—(१) **सीरा युनक्त**=हलों को जोतो। २. **युगा वितनुध्वम्**=जुओं का विस्तार करो। ३. **इह कृते योनौ**=इस संस्कृत भूमिक्षेत्र में **बीजम् वपत**=बीजों को बोवो। ३. **गिरा**=खेती-विषयक कर्मों की उपयोगी सुशिक्षित वाणी **च**=और सुविचार से **सभराः**=भरण-पोषण के तत्त्वोंवाले **श्रुष्टिः**=अन्न (अन्नं श्रुष्टिः—श०७।२।२।५) **नः असत्**=हमारे हों। हम वेदवाणी में प्रतिपादित भोज्य अन्नों को पैदा करनेवाले बनें, उन अन्नों को जिनमें कि भरण-पोषण के तत्त्व पर्याप्त मात्रा में हैं। हमारी कृषि, चाय, तम्बाकू की न हो। ४. हम प्रयत्न करें कि **नेदीय इत्**=थोड़े-से-थोड़े समय में ही **पक्वम्**=पका हुआ धान्य **सृण्यः**=दराँत से कटा जाकर **नः**=हमें **आ इयात्**=सर्वतः प्राप्त हो। ५. 'नेदीय' शब्द कुछ वैज्ञानिक उपाय से कृषि का संकेत करता है जिससे कि फ़सल शीघ्र ही काटी जा सके और हम वर्ष में अधिक-से-अधिक फ़सलें काट सकें। जैसे सामान्यतः भोजन चार घण्टे में पचता है इसी प्रकार फ़सल चार मास में पक सके और हम साल में तीन फ़सलें ले-पाएँ।

भावार्थ—खेती ज्ञानपूर्वक करनी है। पौष्टिक अन्न ही उपजाने हैं। 'विश्वावसु' बनने के लिए यह आवश्यक है।

ऋषिः—कुमारहारितः। **देवता**—कृषीवलाः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

सुपिप्पला-ओषधी

शुन॑ꣳसु फाला॒ वि कृ॑षन्तु भूमि॑ꣳशुनं की॒नाशा॑ऽअ॒भि य॑न्तु वा॒हैः।
शुना॑सीरा ह॒विषा॒ तोश॑माना सुपिप्प॒लाऽओष॑धीः कर्त्तना॒स्मे॥६९॥

१. ये मन्त्र 'कुमारहारित' ऋषि के हैं। सीता=लाङ्गलपद्धति=हल चलाने से बनी रेखा इन मन्त्रों की देवता है। 'कुमार क्रीडायाम्' धातु से बना कुमार शब्द संकेत कर रहा है कि इस व्यक्ति ने कृषि को ही अपनी क्रीड़ा बना लिया है। यह पढ़ता-लिखता है और

फिर अपने मस्तिष्क को आराम देने (relaxation) के लिए खेती में लग जाता है। यह अपने हल इत्यादि को बड़ा ठीक बनाये रखता है और चाहता है कि—२. **सुफालाः**=हल के अग्र भाग में स्थित उत्तम फाल से **भूमिम्**=भूमि को **शुनम्**=आराम से **विकृषन्तु**=खोदें। भूमि बहुत कठोर न हो, कठोर भी हो तो फाल तेज़ हो जो भूमि को आराम से खोदता चले। **कीनाशाः**=(श्रमेण क्लिश्यन्ति) श्रम से अपने शरीर को थकानेवाले कृषक लोग **वाहैः**=बैलों के साथ **शुनम्**=सुख से **अभियन्तु**=खेत में चारों ओर चलें। हल को खेंचना तो बैलों ने ही है, परन्तु कृषक भी अपना पूरा योग दे। वह बैलों के उत्साह-वर्धन का कारण बने। ३. **शुनासीरा** =(शुनो वायुः शीर आदित्यः—नि० ९।४०) वायु और सूर्य **हविषा**=हवि के द्वारा—यज्ञ में डाली गई घृत आदि की आहुतियों द्वारा **तोशमाना** (तोशतिर्वधकर्मा)=रोगकृमियों—कृषिविनाशक कृमियों का नाश करते हुए **अस्मे**=हमारे लिए **सुपिप्पलाः**=उत्तम फलवाली **ओषधीः**=ओषधियों को **कर्त्तन**=करें। वस्तुतः कृषि की उत्तमता के लिए अग्निहोत्र का महत्त्व दो कारणों से है (क) कृमि नष्ट होकर वायु शुद्ध होती है और (ख) वर्षा उचित समय पर होती है। वायु का उपयोग मुख्यरूप से यह है कि इसकी नत्रजन (नाइट्रोजन) भूमि का खाद बनती है। सूर्य का महत्त्व यह है कि यह भूमि में उत्पादक शक्ति को बढ़ाता है। मिट्टी के जो कण सूर्यसम्पर्क में आते हैं वे अधिक उत्पादक तत्त्व को वायु से आकृष्ट कर पाते हैं। एवं, कृषि में अग्निहोत्र में दी गई हवि तथा वायु और सूर्य का भाग है।

भावार्थ—हमारे हल सुफाल हों। हम बैलों का उत्साह-वर्धन करें। अग्निहोत्र में उत्तम हवि दें। ये हवि तथा वायु और सूर्य हमारी कृषि को उत्तम फलवाला करें।

ऋषिः—कुमारहारितः। **देवता**—कृषीवलाः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

मधुर जल-सेचन

घृतेन॒ सीता॒ मधु॑ना॒ सम॑ज्यतां॒ विश्वै॒र्दे॒वैरनु॑मता म॒रुद्भिः॑।
ऊर्ज॑स्वती॒ पय॑सा॒ पिन्व॑मानास्मान्त्सीते॒ पय॑सा॒भ्या व॑वृत्स्व ॥७०॥

१. **सीता**=लाङ्गलपद्धति, हल की रेखा **मधुना घृतेन**=मधुर जल से **समज्यताम्**=संसिक्त की जाए। खारे पानी से सेचन होने पर भूमि के शीघ्र ही ऊसर हो जाने की आशंका होती है। 'स्यादूषः क्षारमृत्तिका'=क्षारमृत्तिका ही ऊसर है, उसमें कोई अन्न उपजेगा नहीं, अतः मधुर जल से सेचन नितान्त आवश्यक है। 'घृतेन मधुना' का प्रसिद्ध अर्थ भी यहाँ अप्रासंगिक नहीं, परन्तु घृत और शहद की खाद डालना आर्थिक दृष्टिकोण से बड़ा कठिन है। महाराष्ट्र में पेशवाओं ने ऐसा करके देखा तो आम के पेड़ों पर अत्यन्त मधुर आमों का उद्भव हुआ। २. **विश्वैः देवैः** (ऋतवो वै देवाः—श० ७।२।४।२६)=सब ऋतुओं से तथा **मरुद्भिः**=वर्षा की ईश मानसून की वायुओं से **अनुमता**=अङ्गीकृत हुई हे **सीते**=लाङ्गलपद्धते! **पयसा**=जल से **पिन्वमाना**=पूरित होती हुई तू **ऊर्जस्वती**=बल व प्राणशक्तिप्रद अन्न-रसवाली होती हुई **अस्मान् अभि**=हमारी ओर **पयसा**=आप्यायन शक्ति से **आववृत्स्व**=सर्वथा वर्त्तमान हो, प्राप्त हो। ३. मन्त्रार्थ से निम्न बातें स्पष्ट हैं—(क) मधुर जल से सिंचाई होनी चाहिए। (ख) ऋतुओं की अनुकूलता अत्यन्त वाञ्छनीय है। (ग) वर्षा की वायु (monsoon winds) का समय पर चलना तो नितान्त आवश्यक है ही। (घ) इस सबके होने पर जो अन्न उत्पन्न होगा वह निश्चय से हमारा आप्यायन करनेवाला होगा।

भावार्थ—खेतों का सेचन मधुर जल से हो, ऋतुओं व वर्षा की वायुओं की अनुकूलता को हम हवि के द्वारा उपस्थित करने का प्रयत्न करें। ऐसा होने पर अन्न सबल होंगे और उनसे हमारा उत्तमता से आप्यायन होगा।

ऋषिः—कुमारहारितः। **देवता**—कृषीवलाः। **छन्दः**—विराट्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

लाङ्गलम्

लाङ्गलं॑ पवीरव॒त्सुशे॑वꣳसोम॒पित्स॑रु।
तदु॒द्वप॑ति॒ गाम॑विं॒ प्रफ॒र्व्यं॑ च॒ पीव॑रीं॒ प्र॒स्थाव॑द्रथ॒वाह॑नम्॥७१॥

१. हल की मूठ को लाङ्गल कहते हैं। यह **लाङ्गलम्**=हल की मूठ **पवीरवत्**=उत्तम फालवाला हो। (पविः धारा, सोऽस्यास्तीति पवीरं फालः), **सुशेवम्**=शोभन—सुखकर हो। उसकी धारा खूब तेज़ हो, जिससे सरलता से भूमि को खोद सके। हमारा यह हल सरलता से चलनेवाला (facile) हो। हम अथवा बैल क्या हल चला रहे हों, हल स्वयं चल रहा हो। **सोमपित्सरु**=सोमादि ओषधियों के पालन करनेवाले का यह हल **त्सरु**=खड्गमुष्टि हो। जैसे क्षत्रिय के हाथ में तलवार की मूठ होती है और वह उसे पकड़कर शत्रुओं का संहार कर देता है उसी प्रकार कृषक के लिए यह लाङ्गल तलवार की मूठ ही है। उसके द्वारा यह सोमादि उत्तम ओषधियों के अभाव को नष्ट कर दें—राष्ट्र में अन्नाभाव को यह दूर करनेवाला हो। २. **तत्**=वह हल—हल द्वारा किया जानेवाला कृषि-कार्य (क) **प्रफर्व्यं च**=(प्रकर्षेण फर्वति गच्छतीति प्रफर्वी) खूब क्रियाशील—चुस्त गौ को—अथर्ववेद के शब्दों में **आस्पन्दमाना**=उछलती-कूदती गौ को **उद्वपति**=(गमयति) प्राप्त कराता है। ऋग्वेद के अक्षसूक्त में कहते हैं कि हे कितव 'तत्र गावः कितव तत्र जाया'। हे जूए की ओर झुकाववाले! तू इस बात को समझ ले कि इस कृषि-कार्य में गौवें हैं, इस कृषि-कार्य में उत्तम घर का निर्माण है। (ख) यह हल तुझे **पीवरीं अविम्**=पूर्ण स्वस्थ मोटी-ताज़ी भेड़ प्राप्त कराएगा, जो तुझे वस्त्रों के लिए उत्तम ऊन देनेवाली होगी। (ग) यह कृषि-कार्य तुझे **प्रस्थावत्**=प्रस्थानसंयुक्त, उत्कृष्ट वेग से युक्त, हर समय चलने के लिए तैयार-पर-तैयार, जिसे रोकने में कठिनता होती हो ऐसे **रथवाहनम्**=रथ के वाहनभूत घोड़े को प्राप्त कराता है। ३. एवं, कृषि-कार्य में गौवें हैं जो हमारे शरीर के पोषण के लिए दूध-घृत आदि प्राप्त कराती हैं। इस कार्य में भेड़े हैं जो वस्त्रों के लिए ऊन देती हैं। वेगवाले घोड़े हैं जो हमें एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले-जाते हैं। इस प्रकार यह कृषि हमें जीवन की सब आवश्यकताओं को प्राप्त कराती है और हमारे घरों को स्वस्थ व आनन्दमय बनाती है। मनुष्य का नाम ही वेद में 'कृष्टि' है—कृषि करनेवाला। वस्तुतः कृषि ही आजीविका के लिए सर्वोत्तम है।

भावार्थ—कृषि में गौवें हैं, भेड़े हैं व घोड़े हैं, अतः हम कृषि की ओर ध्यान दें। हमारा हल सुख से चलनेवाला व अन्नाभाव को समाप्त करनेवाला हो।

ऋषिः—कुमारहारितः। **देवता**—मित्रादयो लिङ्गोक्ताः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

कामदुघा

कामं॑ कामदुघे धुक्ष्व मि॒त्राय॒ वरु॑णाय च।
इन्द्रा॑या॒श्विभ्यां॑ पू॒ष्णे प्र॒जाभ्य॒ऽओष॑धीभ्यः॥७२॥

१. गत मन्त्र के अनुसार कृषि के लिए उपयुक्त हुई यह भूमि हमारे सब कामों का

पूरण करनेवाली होती है, इसी से इसे यहाँ 'कामदुघा' कहा है। हे **कामदुघे**=सब मनोरथों को पूरण करनेवाली भूमे! **कामं धुक्ष्व**=तू हमारे सब मनोरथों को पूरण कर। २. तू **ओषधीभ्यः**= अपने से पैदा की गई ओषधियों के द्वारा **मित्राय**=मित्र के लिए हो, अर्थात् हमारा जीवन इन सोमादि ओषधियों के सेवन से स्नेहवाला हो—मित्रभाववाला हो। ३. **वरुणाय**=तू हमें वरुण बनाने के लिए हो। हमारे जीवन में से द्वेष का निवारण करनेवाली हो। ४. **इन्द्राय**=तू हमें ऐश्वर्य को प्राप्त करने योग्य बनानेवाली हो। ५. **अश्विभ्याम्**=हमारे प्राणापान की शक्ति का वर्धन करनेवाली हो। ६. **पूष्णे**=तू पूषा के लिए हो, अर्थात् मेरे सब अङ्गों का पोषण करनेवाली हो। ७. तथा **प्रजाभ्यः** =सब प्रकार के विकासों के लिए हो। तुझसे उत्पन्न ओषधियाँ प्रयोगपूर्वक सेवित होती हुई मेरी सब शक्तियों का विकास करनेवाली हों।

भावार्थ—कृषि-कार्य में 'स्नेह है, द्वेष का अभाव है, ऐश्वर्य और प्राणापानशक्ति है तथा सब अङ्गों का पोषण व सब शक्तियों का विकास है।' कृषि के द्वारा यह भूमि कामदुघा बनती है।

ऋषिः—कुमारहारितः। **देवता**—अघ्न्याः। **छन्दः**—भुरिगार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

अन्धकार से प्रकाश की ओर

वि मुच्यध्वमघ्न्या देवयानाऽअगन्म तमसस्पारमस्य। ज्योतिरापाम॥७३॥

१. कृषि के द्वारा मनुष्य सब अङ्गों की शक्तियों का ठीक विकास करके पूर्ण नीरोग बनता है। प्रभु कहते हैं कि **विमुच्यध्वम्**=तुम सब आधि-व्याधियों से मुक्त हो जाओ। २. **अघ्न्याः**=रोगों से हनन के योग्य न होओ। कोई भी रोग तुम्हारे जीवन को असमय में ही नष्ट करनेवाला न हो। ३. **देवयानाः**=तुम सदा देवताओं के मार्ग से चलनेवाले बनो। तुम्हारे मनों में आसुर भावनाओं का विकास न हो। ४. तुम निश्चय करो कि **अस्य तमसः**=इस अन्धकार के **परम् अगन्म**=पार को प्राप्त करें—अन्धकार में ही भटकते न रहें। और ५. **ज्योतिः आपाम्**=ज्योति को प्राप्त करनेवाले हों। **'तमसो मा ज्योतिर्गमय'**='मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले-चलिए'—यही तुम्हारी प्रार्थना हो—इसी के लिए तुम्हारा प्रयत्न हो। ६. सोमादि उत्तम ओषधियों के सेवन से तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध होगा, स्मृति ध्रुव होगी और वासनाएँ नष्ट होकर तुम्हारा जीवन सुन्दर बनेगा।

भावार्थ—कृषि से उत्पन्न ओषधियों के सेवन से हम नीरोग बनते हुए अन्धकार से परे प्रकाश को प्राप्त होंगे।

ऋषिः—कुमारहारितः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—आर्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

अन्न व घृत

सजूरब्दोऽअयवोभिः सजूरुषाऽअरुणीभिः। सजोषसावश्विना दꣳसोभिः सजूः सूरऽएतशेन सजूर्वैश्वानरऽइडया घृतेन स्वाहा॥७४॥

१. हे प्रभो! **अब्दः**=वर्ष **अयवोभिः**=न विच्छिन्न होनेवाले काल-अवयवों से अथवा शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष से **सजूः**=संयुक्त हो। हमारे जीवन में यह काल विच्छिन्नावयव न हो जाए। हमारा आयुष्य अविच्छिन्नरूप से चलता चले। २. हमारे लिए प्रतिदिन **उषाः**=उषाकाल **अरुणीभिः**=अरुणवर्ण किरणों से **सजूः**=संयुक्त हो। हम अरुण किरणोंवाली उषा का प्रतिदिन दर्शन करें। ३. **अश्विना**=हमारे प्राणापान **दꣳसोभिः**=उत्तम कर्मों से **सजोषसौ**=प्रीतियुक्त हों।

हम अपनी प्राणशक्ति से उत्तम कर्मों में आनन्द का अनुभव करें ४. **सूरः**=सूर्य **एतशेन**=अपने किरणरूप अश्वों से **सजूः**=युक्त हो। हम सदा सूर्य-किरणों का सेवन करनेवाले बनें। सूर्य-किरणें हमारे लिए सदा स्वास्थ्य व गतिशीलता देनेवाली हों। ५. **वैश्वानरे**=हमारी जाठराग्नि **इडया**=अन्न से **सजूः**=युक्त हो इस **वैश्वानरे**=वैश्वानर अग्नि में **घृतेन स्वाहा**=घृत से उत्तम आहुति दी जाए, अर्थात् घृत के (तौलस्य प्राशान) मपे-तुले प्रयोग से जाठराग्नि को दीप्त किया जाए। वैश्वानराग्नि (जाठराग्नि) का भोजन अन्न व घृत ही हैं। इसमें मद्य-मांस की आहुति न पड़े।

भावार्थ—हमारे जीवन के वर्ष अविच्छिन्न कालावयवोंवाले हों। हम उषा के प्रकाश का प्रतिदिन दर्शन करें। हमारे प्राणापान प्रीतिपूर्वक कर्मों में लगे रहें। हम ज्ञानी बनकर क्रियाशील हों, हम खाने में अन्न व घृत का प्रयोग करें।

ऋषिः—भिषक्। **देवता**—वैद्यः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

शतं सप्त च—त्रियुगं पुरा

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनै नु बभ्रूणामहꣳशतं धामानि सप्त च ॥७५॥

१. पिछले मन्त्रों में कृषि का उल्लेख था। अब उस कृषि में उत्पन्न की जानेवाली ओषधियों का उल्लेख करते हैं। **याः**=जो **पूर्वाः**=(पॄ पालनपूरणयोः) पालन व पूरण करनेवाली **ओषधीः**=ओषधियाँ **जाताः**=उत्पन्न हुई हैं, ये ओषधियाँ **देवेभ्यः**=उस-उस ऋतु में प्रयोग करने के लिए हैं (ऋतवो वै देवाः—श० ७।२।४।२६)। भिन्न-भिन्न ऋतुओं में इनका भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रयोग होता है। २. **त्रियुगे**=(त्रयाणां युगानां समाहारः त्रियुगम्) ये ओषधियाँ तीन युगों में, तीन कालों में 'वसन्त, वर्षा व शरद्' में प्रयोज्य हैं। ३. परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि **पुरा**=उस ऋतु के प्रारम्भ से कुछ पहले ही इनका प्रयोग किया जाए। वसन्त में कफ़ का प्रकोप होता है, अतः वसन्त से कुछ पहले कफ़नाशक ओषधियों का प्रयोग करना चाहिए। वर्षा में वातविकारों की आशंका है, अतः वातविनाशक ओषधियाँ प्रयोग में लानी चाहिएँ और शरद् पित्त-विकार का समय है, अतः पित्तशमन की ओषधियाँ लेनी आवश्यक हैं। उस ऋतु से कुछ पूर्व (पुरा) उस ओषधि के लेने पर हम सब विकारों से बचे रहेंगे। ४. इस ठीक प्रयोग के लिए **अहम्**=मैं **बभ्रूणाम्**=लोकपालन की क्षमता रखनेवाली इन ओषधियों का **मनै नु**=निश्चय से मनन करता हूँ। इनका विचार करके ही तो इनका ठीक प्रयोग कर पाऊँगा। ५. **शतं धामानि**=मैं इनके सौ धामों का मनन करता हूँ। यहाँ आयु का एक-एक वर्ष ओषधि का एक-एक स्थान है। अभिप्राय यह है कि मैं आयु का विचार करके औषध देता हूँ। बालक, युवक व वृद्ध को औषध-मात्रा अलग-अलग ही दी जाएगी। **सप्त च**=मैं इनके सात धामों का भी विचार करता हूँ। (य एवेमे सप्त शीर्षन् प्राणास्तानेतदाह—श० ७।२।४।२६) इस शतपथ वाक्य से दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँख व एक मुख—ये ही सात धाम हैं। औषध-प्रयोग में यह भी ध्यान करना आवश्यक है कि औषध कान में डाली जा रही है या आँख में, जितनी कान में डाली जा सकती है उतनी आँख में नहीं।

भावार्थ—ओषधियाँ हमारी कमियों का फिर से पूरण करनेवाली हैं। ये वसन्त, वर्षा व शरद् से कुछ पहले प्रयोग में लानी चाहिएँ। उम्र व अङ्ग का ध्यान करके ही इनका

प्रयोग करना लाभकर है।

ऋषिः—भिषक्। देवता—वैद्यः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

अगदता—अ-गद-ता (नीरोगता)

शतं वोऽअम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः।
अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मेऽअगदं कृत ॥७६॥

१. ओषधियाँ मातृतुल्य हित करनेवाली हैं, अतः कहते हैं कि **अम्ब**=हे मातृभूत ओषधियो! **वः**=तुम्हारे **शतं धामानि**=सैकड़ों धाम—स्थान व तेज हैं। (क) शतशः स्थानों में ये ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। कोई पर्वतमूल में, कोई मध्यभाग में और कोई पर्वतशिखरों पर तो कोई समुद्रतट पर उगती हैं, कोई वनों में व कोई मैदानों में और कई ओषधियाँ किन्हीं विशेष पर्वतों में ही उपलभ्य हैं। (ख) इस प्रकार इन ओषधियों के स्थान तो सैकड़ों हैं ही इनके तेज भी, शक्तियाँ भी पृथक्-पृथक् हैं। कई पित्तशमन करनेवाली हैं तो कई वात-विकार को शान्त करती हैं और दूसरी कफ़-प्रकोप को दूर भगानेवाली हैं। २. **उत**=और हे ओषधियो! **वः**=तुम्हारी **सहः**=प्रभाव शक्तियाँ **सहस्रमुत**=अनन्त प्रकार का है। जब वैद्य इन्हें रोगी को देता है तब इन ओषधियों के विचित्र-विचित्र परिणाम उसके शरीर पर होते हैं। ३. **अध**=अब **शतक्रत्वः**=सैकड़ों कर्मों को करनेवाली ओषधियो! **यूयम्**=तुम **मे**=मेरे **इमम्**=इस रोगी को **अगदम्**=रोग से रहित **कृत** =कर दो। तम्हारे प्रभाव से यह मुझसे चिकित्स्यमान रोगी स्वस्थ हो जाए। इसके रोग को तुम दूर करनेवाली बनो। तुम्हारी कृपा से मेरा 'भिषक्' यह नाम यशोन्वित बना रहे।

भावार्थ—ओषधियों के अनन्त स्थान व तेज हैं। शतशः इनके परिणाम हैं। विचारपूर्वक दी गई ओषधियाँ रोगी को नीरोग करनेवाली होती हैं।

ऋषिः—भिषक्। देवता—वैद्यः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

स-जित्वता=सह विजय

ओषधीः प्रतिमोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः।
अश्वाऽइव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्णवः ॥७७॥

१. **पुष्पवतीः**=प्रशस्त फूलोंवाली **प्रसूवरीः**=प्रशस्त फलोंवाली **ओषधीः प्रति**=ओषधियों का लक्ष्य करके **मोदध्वम्**=आनन्दित होके वैद्य रोगियों से कहता है कि ये ओषधियाँ अपने फूलों व फलों से तुम्हें भी फूला-फला करनेवाली बनेंगी। तुम्हारे शरीर भी निर्दोष होंगे। जिस प्रकार ये ओषधियाँ प्रसन्न प्रतीत होती हैं तुम भी इसी प्रकार नीरोग होकर प्रसन्न हो जाओगे। २. ये ओषधियाँ **अश्वाः इव**=घोड़ों की भाँति—जिस प्रकार संग्राम में घोड़े विजय करानेवाले होते हैं उसी प्रकार **सजित्वरीः**=(सह विजयशीलाः) ये ओषधियाँ भी पथ्य के साथ रोगों को जीतनेवाली हैं। घोड़ा सवार के साथ युद्ध को जीतता है, इसी प्रकार ये ओषधियाँ पथ्य व उत्तम वैद्य के साथ रोगों को जीतती हैं। ३. **वीरुधः**=(विविधान् रोगान् सन्धन्ति इति) ये ओषधियाँ तुम्हारे विविध रोगों को रोकनेवाली हैं। ४. **पारयिष्णवः**=ये रोगरूप विघ्नों से हमें पार ले-जानेवाली हैं। रोगों से पार ले-जाकर ये हमें जीवन के अन्त तक ले-चलती हैं।

भावार्थ—ओषधियाँ रोगों को नष्ट करनेवाली हैं। ये तो हैं ही वीरुध=विविध रोगों

को रोकनेवाली, और ओष=रोगदहन करने के कारण ओषधि हैं, परन्तु ये हैं सजित्वरी=साथ मिलकर जीतनेवाली। पथ्य और वैद्य इनके सहायक हों तभी ये रोगों को जीतती हैं।

ऋषिः—भिषक्। देवता—चिकित्सुः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

मातरः देवीः

ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुप ब्रुवे।
सनेयमश्वं गां वासऽआत्मानं तव पूरुष॥७८॥

१. **ओषधीः इति**=ये जो ओषधियाँ हैं, वे **मातः**=मातृस्थानापन्न हैं—माता के समान कल्याण करनेवाली हैं। **तत्**=इसलिए मैं **वः**=आपको **देवीः**=दिव्य गुणोंवाली **उपब्रुवे**=कहता हूँ। वस्तुतः ओषधियाँ हमारे सब रोगों को दूर करके हमारे जीवनों का सुन्दर निर्माण करती हैं। हमारे सब रोगों के जीतने की कामनावाली ये वस्तुतः 'देवी' हैं 'दिवु विजिगीषा', निर्माण करने से 'माता', रोगों को जीतने से 'देवी'। २. ओषधियाँ 'माता व देवी' इन नामों से पुकारी जाकर कहती हैं कि हे **पुरुष**=अपना पूरण करने की कामनावाले! (पूरयितुं वष्टि) और हमारा उचित प्रयोग करनेवाले पुरुष! हम **तव**=तेरे **अश्वं गां वासः**=घोड़ों, गौवों व वस्त्रों को तथा **आत्मानम्**=शरीर को **सनेयम्**=प्राप्त करती हैं। हमारी शक्ति से नीरोग होकर तू घोड़ों, गौवों व वस्त्रों को कमानेवाला तो बनता ही है, पर सबसे बड़ी बात यह है कि तू अपने शरीर को प्राप्त करनेवाला बनता है। ये रोग तेरे शरीर के पति ही बन गये थे। इसी से इन्हें 'सपत्न' कहने की परिपाटी हो गई। तेरे इस शरीर पर तेरा निर्द्वन्द्व राज्य न रहा था।

भावार्थ—ये ओषधियाँ माताएँ हैं, देवी हैं। इनकी कृपा से, अर्थात् इनके प्रयोग से स्वस्थ होकर हम घोड़ों, गौवों व वस्त्रों को पाते हैं। इनकी शक्ति से हमारा शरीर हमारा ही बना रहता है, अन्यथा इसपर रोगों का अधिकार हो जाता है।

ऋषिः—भिषक्। देवता—वैद्यः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

अश्वत्थ पर्ण में निवास

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।
गोभाजऽइत् किलासथ यत् सनवथ पूरुषम्॥७९॥

१. ये ओषधियाँ किस प्रकार दिव्य गुणोंवाली होती हैं, इसका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **वः**=तुम्हारा **निषदनम्**=बैठना व ठहरना **अश्वत्थे**=आश्वत्थी—अश्वत्थ की बनी हुई उपभृत् व स्रुच् में है, अर्थात् पहले-पहले तुम अश्वत्थवृक्ष की लकड़ी से बने गोल प्याले में घृत व हवि के रूप में होती हो। २. **पर्णे**=पर्णमयी जुहू में **वः**=तुम्हारा **वसतिः कृता**=निवास किया गया है। घृत व हवि के बर्तन में से घृत और हवि जुहू=चम्मच में ली जाती हैं और अग्नि में डाली जाती हैं। ३. अब अग्नि में डाली हुई ये ओषधियाँ **इत् किल**=निश्चय से **गोभाजः**=(गाम् आदित्यं भजन्ति) सूर्य का सेवन करनेवाली **असथ**=होती हैं। **'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते'** (मनु०)=अग्नि में डाली हुई आहुतियाँ आदित्य के पास पहुँचती है। ४. वहाँ गर्मी से वाष्पीभूत जल आकाश में पहुँचकर जब फिर से घनीभूत होने लगता है तब हविर्द्रव्य के ये कण जल-बिन्दुओं का केन्द्र बनते हैं। ये बरसे और फिर सिक्तभूमि से जो ओषधियाँ उत्पन्न हुई, वे इन्हीं घृतकणों व हविष्कणों को

केन्द्र में लेकर उत्पन्न हुई, अतः इनमें दिव्य शक्ति का होना स्वाभाविक ही था। ५. अब ये 'देवीः'—दिव्य गुणवाली ओषधियाँ **यत्**=जब **पूरुषम्**=पुरुष का **सनवथ**=सेवन करती हैं तब सचमुच उनके रोगों को दूर करनेवाली होती हैं (वीरुधः) और उनके जीवन का सुन्दर निर्माण करती हैं (मातरः)।

भावार्थ—अग्निहोत्रादि यज्ञों के होने पर वृष्टि-जल से उत्पन्न ओषधियाँ सचमुच पुरुष का उत्तम कल्याण करती हैं।

ऋषिः—भिषक्। **देवता**—ओषधयः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

भिषक्

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समितावि॑व।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः ॥८०॥

१. गत मन्त्र की दिव्य ओषधियों के प्रयोक्ता वैद्य का लक्षण कहते हैं कि **यत्र**=जिस पुरुष में **ओषधीः**=ओषधियाँ **समग्मत**=व्याधियों के जीतने के लिए इस प्रकार इकट्ठी होती हैं **इव**=जैसेकि **राजानः**=राजा लोग शत्रु को जीतने के लिए **समितौ**=युद्ध में सङ्गत होते हैं। राजा इकट्ठे होकर शत्रु का पराजय करते हैं, ओषधियाँ वैद्य के समीप एकत्र होकर रोग को पराजित करती हैं २. **सः**=वह **विप्रः**=शरीर में आ गई कमियों का फिर से (प्रा-पूरणे) पूरण करनेवाला व्यक्ति **भिषक्**=वैद्य **उच्यते**=कहलाता है। ३. यह वैद्य **रक्षोहा**=अपने रमण के लिए रोगी के शरीर का क्षय करनेवाले रोगकृमियों का नाश करता है। ४. रोगकृमियों के नाश के द्वारा यह **अमीवचातनः**=(अमीवान् चातयति) रोगों को नष्ट करता है। ५. एवं, वैद्य वह है—(क) जिसके पास ओषधियाँ हैं, (ख) जो उन ओषधियों के द्वारा रोगी की न्यूनता को दूर करता है, (ग) रोगकृमियों का संहार करता है, (घ) और रोगों को दूर करता है। इस वैद्य ने रोगों के साथ संग्राम करना है। इस संग्राम के लिए ओषधियाँ इसकी सहायता करती हैं।

भावार्थ—उत्तम वैद्य वह है जो ओषधियों के द्वारा रोगरूप शत्रुओं से युद्ध करके रोगों का नाश करता है और रोगी के शरीर में आ गई कमियों को दूर कर देता है।

ऋषिः—भिषक्। **देवता**—वैद्यः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

चतुर्विधं भेषजम्

अश्वावतीꣳसोमावतीमूर्जयन्तीमुदोजसम्।
आविवित्सि सर्वाऽओषधीरस्मा अरिष्टतातये ॥८१॥

१. गत मन्त्र का वैद्य कहता है कि मैं **अश्वावतीम्**=शक्ति देनेवाली ('अश्व' शब्द शक्ति का प्रतीक है), जो ओषधि मनुष्य को शक्ति-सम्पन्न बनाती है, उसको **आविवित्सि**=अच्छी प्रकार जानता हूँ। २. **सोमावतीम्**=सौम्य रसों से युक्त, सोमरसवाली, जो मनुष्य की उत्तेजना व तिलमिलाहट को कम करती है उन ओषधियों को भी जानता हूँ। ३. मैं **ऊर्जयन्तीम्**=(ऊर्ज बलप्राणनयोः) बल व प्राणशक्ति को देनेवाली ओषधियों को जानता हूँ। ४. **उदोजसम्**=उद्गत ओजवाली ओषधियों को भी जानता हूँ। ५. इस प्रकार इन चार गुणों से युक्त **सर्वाः ओषधीः**=सब ओषधियों को **अस्मै**=इस पुरुष के लिए **अरिष्ट-तातये**=रोग के विनाश के लिए—अहिंसा के लिए प्राप्त कराता हूँ। ६. ओषधियों के चार मुख्य गुण हैं—ये (क) पुरुष

को शक्तिशाली बनाती हैं, (ख) घबराहट को दूर कर शान्त करती हैं, (ग) बल और प्राणशक्ति-सम्पन्न हैं, (घ) मनुष्य को ओजस्वी बनाती हैं। ६. वैद्य को इस प्रकार की सब ओषधियों को जानना व रखना है, तभी वह यथास्थान सबका प्रयोग करके रोगी को व्याधि का शिकार होने से बचा सकेगा।

भावार्थ—वैद्य सब ओषधियों को जाने और उनके ठीक प्रयोग से रोगी को सुखी करे।

ऋषिः—भिषक्। देवता—ओषधयः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

ओषधियों की शक्तियाँ

उच्छुष्माऽओषधीनां गावो गोष्ठादिवेरते।
धनꣳ सनिष्यन्तीनामात्मानं तव पूरुष॥८२॥

१. पिछले मन्त्र में वर्णित चार प्रकार की ओषधियाँ जब यथायथ वैद्य से प्रयुक्त होती हैं तब **ओषधीनाम्**=इन ओषधियों के **शुष्माः**=रोग-शोषक बल **उत् ईरते**=इस प्रकार बाहर प्रकट होते हैं, **इव**=जैसे **गावः गोष्ठात्**=गौवें गोष्ठ से बाहर निकलकर प्रकट होती हैं। रोगी का रोग दूर होता है और इन ओषधियों का प्रभाव चेहरे पर भी व्यक्त होने लगता है। २. किन ओषधियों का? हे पुरुष! जो ओषधियाँ **तव**=तुझे **धनम्**=धन **सनिष्यन्तीनाम्**=प्राप्त करानेवाली हैं। मन्त्र ७८ में इसी धन का उल्लेख 'अश्वं गां वासः' शब्दों से हुआ है। ये ओषधियाँ केवल धन ही प्राप्त कराती हैं ऐसा नहीं, ये ओषधियाँ **तव आत्मानम्**=तेरे शरीर को भी प्राप्त कराती हैं, अर्थात् तुझे पूर्ण स्वस्थ बनाती हैं।

भावार्थ—योग्य वैद्य से उपयुक्त होती हुई ओषधियों की शक्तियाँ उसके रोगी में प्रकट होती हैं। ये रोगी को नीरोग बनाकर उसे घोड़े, गौ, वस्त्र व उत्तम शरीर प्राप्त कराती है।

ऋषिः—भिषक्। देवता—वैद्याः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

इष्कृति व निष्कृति

इष्कृतिर्नाम वो मातार्थो यूयꣳस्थ निष्कृतीः।
सीराः पतत्रिणीः स्थन यदामयति निष्कृथ॥८३॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जब ओषधियों के शोषक बल उद्गत होते हैं तब रोग नष्ट हो जाते हैं। इसी बात को प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि ये ओषधियाँ **इष्कृतिः**=(उपसर्गैकदेशलोप है, मूलशब्द निष्कृति है) व्याधि का विनाश करती हैं **नाम वः माता**=यह 'निष्कृति' तुम्हारी माता का नाम है। यह भूमि तुम्हारी माता है जो सचमुच आरोग्य का कारण है। २. **अथ उ**=और इसी कारण **यूयम्**=तुम भी **निष्कृतिः**=व्याधियों का निष्क्रमण करनेवाली **स्थ**=हो। तुम भी भूमिरूप माता से उत्पन्न होकर व्याधियों को दूर करनेवाली होती हो। २. **सीराः**=(सह इरया=अन्नेन वर्तन्ते) पथ्यान्न के साथ होनेवाली तुम **पतत्रिणीः स्थन**=(प्रसरणशीलाः) शरीर में व्याप्त होनेवाली हो। ३. **यत्**=जब ऐसा होता है तब **आमयति**=(रुजति आमयाविनि) रोगी में स्थित रोग को **निष्कृथ**=(निर्नाशयत) खूब नष्ट करती हो। ओषधियों का जब पथ्य के साथ प्रयोग होता है तब निश्चय से वे रोग को नष्ट करनेवाली होती हैं।

भावार्थ—उत्तम भूमि में उत्पन्न ओषधियाँ रोग को नष्ट करनेवाली होती हैं। इसी से

इन्हें 'निष्कृति' नाम दिया गया है। ओषधि की गुणवत्ता के लिए उसके साथ पथ्य का प्रयोग भी आवश्यक है।

ऋषिः—भिषक्। देवता—वैद्यः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

रोग-हरण (ज्वरचोरण), रोगरूप चोर का पलायन

अति विश्वाः परिष्ठा स्तेनऽइव व्रजमक्रमुः।
ओषधीः प्राचुच्यवुर्यत्किं च तन्वो रपः ॥८४॥

१. पिछले मन्त्र की ही भावना को कि ये ओषधियाँ रोगों को निकाल देती हैं, प्रकारान्तर से पुनः कहते हैं कि **विश्वाः**=शरीर में प्रवेश करनेवाली (विश to enter), **परिष्ठाः**=(परि सर्वतः व्याधीन् अधिष्ठाय तिष्ठन्ति) प्रवेश करके शरीर में सर्वत्र व्याधियों पर अधिष्ठित होनेवाली **ओषधीः**=ओषधियाँ **अत्यक्रमुः**=रोगों पर इस प्रकार अतिशयेन आक्रमण करती हैं **इव**=जिस प्रकार **स्तेनः**=चोर **व्रजम्**=गोष्ठ पर। जैसे रात्रि में चोर गो-हरण के लिए गोशाला पर आक्रमण करता है और चुपके से गौ को चुरा ले-जाता है, इसी प्रकार ओषधियाँ शरीर में प्रवेश करके रोगों को चुपके से चुरा ले-जाती हैं। २. इस प्रकार ये ओषधियाँ **यत् किंच**=जो कुछ भी **तन्वः रपः**=शरीर का पाप, अर्थात् शिरोव्यथा गुल्म या अतिसार आदि रोगरूप पाप का फल होता है, उस सबको **प्राचुच्यवुः**=प्रच्यावित कर देती हैं, नष्ट कर देती हैं। शरीर में किसी प्रकार का रोग नहीं रह जाता। ३. 'स्तेन इव व्रजम्' इस उपमा को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जिस प्रकार चोर व्रज में घुसा पर स्वामी के अचानक आ जाने पर उससे धमकाया जाकर भाग खड़ा होता है उसी प्रकार बीमारी शरीर में घुसी, परन्तु इतने में ओषधि आ गई और उससे धमकायी जाकर मानो बीमारी भाग गई। आचार्य दयानन्द ने उपमा का यही स्वरूप लिया है। गौ की चोरी नहीं हुई इसी प्रकार रोग शरीर के बल व किसी शक्ति को नष्ट नहीं कर पाया और भगा दिया गया। उव्वट आदि ने उपमा का पहला स्वरूप रखा है, आचार्य ने पिछला। पिछले का सौन्दर्य सुव्यक्त है।

भावार्थ—ओषधियाँ शरीर में प्रवेश करती हैं और रोगों को मार भगाती हैं। ओषधियाँ मानो चोर हैं जो रोगरूप गौ को हर लेती हैं अथवा ओषधियाँ मालिक हैं जो रोगरूप चोर को भगा देती हैं।

ऋषिः—भिषक्। देवता—वैद्यः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

यक्ष्म के आत्मा का नाश

यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्तऽआदधे।
आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा ॥८५॥

१. 'ओषधियाँ रोग को धमकाकर भगा देती हैं', गत मन्त्र की इसी बात को और भी सुन्दर रूप में इस प्रकार कहते हैं कि **यत्**=ज्यों ही **वाजयन्**=रोगी को शक्तिशाली बनाता हुआ (बनाने की कामनावाला) मैं वैद्य **इमाः ओषधीः**=इन ओषधियों को **हस्ते**=हाथ में **आदधे**=धारण करता हूँ त्यों ही **यक्ष्मस्य**=रोग का **आत्मा**=स्वरूप **नश्यति**=नष्ट हो जाता है। औषध को खाने से पहले ही रोग नष्ट होने लगता है, खाने पर तो उसने बचना ही क्या है? २. यह वर्णन निःसन्देह काव्यात्मक है, इसमें अतिशयोक्ति अलंकार दिखता

है, परन्तु इसमें बहुत कुछ सत्यता भी है। रोगी के मन पर वैद्य की महिमा, उसके प्रति विश्वास से उत्तम प्रभाव पड़ने से वह अपने को स्वस्थ होता हुआ अनुभव करता है। रोगी को जब वैद्य कहता है कि 'मा बिभेः न मरिष्यसि'='डरता क्यों है, तू मरेगा नहीं। मैं अभी तेरे रोग को मारे डालता हूँ' हृदय में ऐसा विश्वास बैठने पर रोगी अपने को अच्छा अनुभव क्यों न करेगा? ३. उपमा से इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **यथा**=जैसे **जीवगृभः**=(जीवन् सन्नेव यो हिंसार्थं गृह्यते स जीवगृप् तस्य) कोई व्यक्ति जीवित ही फाँसी दिये जाने के लिए पकड़ लिया जाता है और वधस्थली की ओर ले-जाया जाता है तो उस जीवगृभ् के प्राण अतिविषाद के कारण-'मैं अब मरा' इस प्रकार सोचने के कारण **पुरा**=फाँसी देने से पहले ही नष्टप्राय हो जाते हैं उसी प्रकार ओषधि के वैद्य के हाथ में धारण करते ही रोग को अपनी मृत्यु दिखने लगती है और रोग की आत्मा नष्ट हो जाती है। रोग का ज़ोर नहीं रहता, यही यक्ष्म की आत्मा का नाश है।

भावार्थ—सद्वैद्य आया, उसने औषध हाथ में पकड़ी और रोगी का रोग भागा। सद्वैद्य वही है जो रोगी की आत्मा को जिलाकर रोग की आत्मा को मार देता है।

ऋषिः—भिषक्। देवता—वैद्यः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

यक्ष्म-विबाधन (रोग-भङ्ग)

यस्यौषधीः प्रसर्पथाङ्गमङ्गं परुष्परुः।
ततो यक्ष्मं विबाधध्वऽउग्रो मध्यमशीरिव॥८६॥

१. वैद्य ओषधियों को सम्बोधित करके कहता है कि **ओषधीः**=हे ओषधियो! तुम **यस्य**=जिस रोगी के **अङ्गं अङ्गं**=अङ्ग-अङ्ग में **परुष्परुः**=और पर्व-पर्व में **प्रसर्पथ**=जाती हो या व्याप्त होती हो **ततः**=उस-उस अङ्ग व पर्व से उस रोगी के **यक्ष्मम्**=रोग को **विबाधध्वे**=बाधित करती हो, अर्थात् उस अङ्ग व पर्वसमुदाय से व्याधि को दूर करती हो। २. ओषधियों द्वारा रोगों के बाधन का दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि **उग्रः**=गोधा व अंगुलित्राण को बाँधे हुए क्षत्रिय **इव**=जैसे **मध्यमशीः**=(देहमध्ये भवं मध्यमं मर्मभागं शृणाति हिनस्ति) देहमध्य में होनेवाले मर्मभाग को हिंसित करता है। मर्मघातक क्षत्रिय जैसे दुष्ट के लिए भयंकर होता है, उसी प्रकार ये ओषधियाँ रोगों के लिए भयंकर होती हैं। उग्र क्षत्रिय जैसे शत्रु के दो टुकड़े कर डालता है, इसी प्रकार यह ओषधि रोग के टुकड़े कर डालती है।

भावार्थ—एक सद्वैद्य से दी गई उत्तम ओषधि रोगरूप शत्रु को इस प्रकार नष्ट कर देती है जैसे कि उग्र क्षत्रिय से प्रयुक्त अस्त्र शत्रु को मार डालता है।

ऋषिः—भिषग्। देवता—वैद्यः। छन्दः—विराडनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

'वात-पित्त-कफ़'-विकार-ध्वंस

साकं यक्ष्म प्र पत चाषेण किकिदीविना।
साकं वातस्य ध्राज्या साकं नश्य निहाकया॥८७॥

१. वैद्य रोग को सम्बोधित करते हुए कहता है कि हे **यक्ष्म**=रोग! तू **साकं प्रपत**=साथ-साथ भाग जा। (क) किसके साथ? **चाषेण**=(चषति व्याकुलं कृत्वा हन्ति=पित्तरोगः) उस पित्त विकार के साथ जो पीछा ही नहीं छोड़ता अपितु व्याकुल करके मार ही डालता है, (चष् to chase, वधे)। (ख) फिर किसके साथ? **किकिदीविना**=(कफ़ा-

वरुद्धकण्ठो, तद् ध्वनेरनुकरणार्थः किकिशब्दः, किकिना दीव्यतीति) कफ़ से अवरुद्ध कण्ठ से उठनेवाले 'किकि' शब्द के साथ रोगी को जीतने की कामना करनेवाले (दिव् विजिगीषा) श्लेष्मरोग के साथ तू यहाँ से भाग जा। (ग) और फिर **वातस्य ध्राज्या साकं** (प्रपत)=वात की विकृत गति, अर्थात् वातविकार के साथ तू यहाँ से नष्ट हो जा। २. और हे **यक्ष्म**=रोग! तू **निहाकया** (यया कया रुजा हा निहतोऽस्मि इति शब्दं करोति अथवा निहन्ति कायम् इति वा)=जिस पीड़ा से 'अरे मैं मरा' इस प्रकार शब्द करता है या जो पीड़ा शरीर को समाप्तप्राय-सा ही कर देती है, उस कृच्छ्रापत्ति के **साकम्**=साथ **नश्य**=तू इस शरीर से अदृश्य हो जा, भाग जा। ३. एवं, अर्थ यह हुआ कि यह **यक्ष्म**=राजरोग वात-पित्त-कफ़-विकारों के साथ तथा तीव्र पीड़ासहित नष्ट हो जाए। राजरोग जाए और ये विकार व पीड़ाएँ भी जाएँ।

मन्त्रार्थ इस रूप में भी हो सकता है (१) हे **यक्ष्म**=रोग! तू **चाषेण**=चाषपक्षी के साथ **किकिदीविना**='किकि' इस अव्यक्त ध्वनि करनेवाले पक्षी के साथ उड़ जा, तू उन्हीं के साथ रह। (२) तू **वातस्य ध्राज्या साकं नश्य**=वायु की गति के साथ भाग जा। (३) **निहाकया साकं नश्य**=(हा कष्टं निर्गतोऽहं कया ओषध्या) 'अरे मैं किस ओषधि से मार भगाया गया' इस शब्द के साथ फिर न लौटने के लिए चला जा।

यह अर्थ भी हो सकता है कि (१) **किकिदीविना** (किं किं ज्ञानं दीव्यति ददाति) किस-किस ज्ञान को देनेवाले, अर्थात् उत्तमोत्तम अद्भुत ज्ञानों के देनेवाले **चाषेण**=भक्षणीय आहार के साथ, अर्थात् इसका प्रयोग होते ही तू नष्ट हो जा। (२) **वातस्य ध्राज्या**=वायु की तीव्र गति से—प्राणायाम में तीव्रता से बाहर फेंके गये वायु के साथ तू अदृश्य हो जा। (३) और **निहाकया**=(नितरां हाकया त्यागेन) विषयों के नितरां त्याग के साथ तू भी नष्ट हो जा। (४) यह अर्थ आचार्य दयानन्द की शैली पर किया गया है। भाव यह है कि रोग के दूरीकरण के लिए तीन बातें आवश्यक हैं। (क) ज्ञानवर्धक सात्त्विक आहार। (ख) प्राणायाम व दीर्घश्वास (deep breathing) तथा (ग) विषयत्याग।

भावार्थ—१. हमारे रोग वात-पित्त-कफ़विकारों व पीड़ाओं के साथ दूर हो जाएँ। २. ये चाष के साथ आकाश में उड़ जाएँ। आँधी के साथ दूर देश में पहुँच जाएँ 'अरे मारे गये' ऐसा चिल्लाकर भाग चलें। ३. सात्त्विक आहार, दीर्घश्वास, व विषय-त्याग हमें रोगों से बचानेवाले हों।

ऋषिः—भिषक्। **देवता**—वैद्याः। **छन्दः**—विराडनुष्टप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

ओषधि-मिश्रण (Prescription)

अन्या वोऽअन्यामवत्वन्यान्यस्याऽउपावत ।
ताः सर्वाः संविदानाऽइदं मे प्रावता वचः ॥८८॥

१. वैद्य गत मन्त्र में वर्णित 'वात-पित्त-कफ़' विकारों के दूरीकरण के लिए विविध ओषधियों का मिश्रण करता है और चाहता है कि ये एक-दूसरे के वाञ्छनीय प्रभाव को नष्ट न करती हुई अपना-अपना कार्य करें। इसी से वह कहता है कि हे ओषधियो! **वः**=तुममें **अन्या**=कोई एक ओषधि **अन्याम्**=दूसरी ओषधि को **अवतु**=रक्षित करे। उसके वाञ्छनीय प्रभाव को नष्ट न करे। २. इस प्रकार रक्षित हुई **अन्या**=यह दूसरी ओषधि **अन्यस्याः**=अपने से भिन्न तीसरी ओषधि के **उपावत**=समीप आकर उसका रक्षण करे, उसके प्रभाव को नष्ट न करे। ३. **ताः सर्वाः**=वे सब कफ़, वात व पित्तविनाशक ओषधियाँ

संविदानाः=परस्पर ऐकमत्य को प्राप्त हुईं, अर्थात् मिलकर रोगनाशन का कार्य करती हुईं **मे**=मेरे **इदं वचः**=गत मन्त्र में कहे गये इस वचन को कि हे यक्ष्म! तू भाग जा' **प्रावत**=पूर्णतया रक्षित करें, अर्थात् तुम्हारे मिलकर कार्य करने से मेरा कथन सत्य ही सिद्ध हो। ओषधियों का परस्पर मिश्रण इस प्रकार हो कि उनमें फँसकर रोग पिस ही जाए।

भावार्थ—युक्ति से मिलाई हुई ओषधियाँ रोगों को नष्ट करती हैं। एक-दूसरे के प्रभाव को वे समावस्था में ले-आती हैं। उनकी उग्रता रोग को समाप्त करती हुई भी रोगी के लिए घातक नहीं रह जाती।

ऋषिः—भिषक्। **देवता**—वैद्याः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

बृहस्पति-प्रसूत चार ओषधियाँ

याः फलिनीर्याऽअफलाऽअपुष्पा याश्च पुष्पिणीः।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वꣳहसः॥८९॥

१. ओषधियों के भिन्न-भिन्न रूपों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि (क) **याः**=जो ओषधियाँ **फलिनीः**=फलवाली हैं, अर्थात् जिनपर फल आता है। (ख) **याः**=जो **अफलाः**= फलरहित हैं, जिनपर फल नहीं आता। (ग) **अपुष्पाः**=जो फूलवाली नहीं है, जिनमें बिना ही फूल के सीधा फल आ जाता है। (घ) **याः च**=और जो **पुष्पिणीः**=फूलोंवाली हैं, फूल के द्वारा फल को पैदा करती हैं। २. **बृहस्पतिप्रसूताः** =(बृहतां पतिः तेन प्रसूताः) बड़े-बड़े लोकों के स्वामी परमेश्वर से उत्पादित **ताः**=वे ओषधियाँ **नः**=हमें **अहंसः**=पाप से उत्पन्न रोग व रोगजन्य दुःख से **मुञ्चन्तु**=छुड़ाएँ। ३. 'बृहस्पतिप्रसूताः' की भावना एक और भी है। **बृहस्पति**=**ब्रह्मणस्पतिः**=सब ज्ञानों का पति है, विद्वान् है, यह इस **बृहती**= आयुष्यवर्धन करनेवाली (बृहि वृद्धौ) आयुर्वेदविद्या का भी पति है। आयुर्वेद में निष्णात इस बृहस्पति से **प्रसूत** =प्रेरित=प्रयोग में लायी गई ये ओषधियाँ हमें पापजन्य रोगों और रोगजन्य दुःखों से बचाएँ। (यह पिछला अर्थ श्री जयदेवजी ने अपने भाष्य में दिया है।) ४. एवं, ओषधियाँ स्थूलतया चार भागों में विभक्त हैं 'फलिनी, अफला, पुष्पिणी और अपुष्पा' ये सब सुयोग्य वैद्य ये प्रयुक्त होकर रोगी को रोगमुक्त करती हैं।

भावार्थ—मन्त्रोक्त चतुर्विध ओषधियाँ विद्वान् वैद्य से विनियुक्त होकर व्याधि-विनाश करनेवाली हों।

ऋषिः—भिषक्। **देवता**—वैद्याः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

चार पाप

मुञ्चन्तु मा शपथ्यादथो वरुण्यादुत।
अथो यमस्य पड्वीशात्सर्वस्माद् देवकिल्बिषात्॥९०॥

१. उपर्युक्त मन्त्र में वर्णित ओषधियाँ **मा**=मुझे **शपथ्यात्**=क्रोध में आक्रोश (शप आक्रोशे) के कारण उत्पन्न हो जानेवाले पैत्तिक विकारों—रक्त दबाब (blood pressure) आदि से **मुञ्चन्तु**=मुक्त करें। पित्त विकारवाले को ही क्रोध अधिक होता है और उस क्रोध में वह गाली आदि पर उतर आता है। इससे वे पैत्तिक विकार और बढ़ जाते हैं (उनसे ये फलिनी ओषधियाँ मुझे मुक्त करें)। २. **अथो**=और **वरुण्यात्**=वरुण जल देवता है, उनके प्रकोप से होनेवाले रोग वरुण्य रोग हैं। जलविकार से अभिप्राय कफ़-विकार ही है।

अतः कफ़जनित जुकाम, खाँसी, क्षय आदि रोगों से भी ये (अफला) ओषधियाँ मुझे मुक्त करें। ३. **उत**=और **अथो**=अब **यमस्य**=(अयं वै यमः यो यं पवते) इस बहनेवाले वायु के **पड्वीशात्**=बन्धन से—वात-विकार से उत्पन्न हो जानेवाले गठिया आदि अङ्गग्रहों से ये (अपुष्पा) ओषधियाँ मुझे मुक्त करें। इन (अपुष्पा) ओषधियों के प्रयोग से मैं वातिक रोगों से बच जाऊँ। ४. और अन्त में **सर्वस्मात्**=सब **देवकिल्बिषात्**=इन्द्रियों के विषयों में किये गये पापों से—उस-उस इन्द्रिय के अपने-अपने विषय में आसक्ति से ये (पुष्पिणी) ओषधियाँ मुझे छुड़ाएँ। इन्द्रियाँ विषयासक्त होती हैं तो उनमें ह्रास—शक्ति की क्षीणता हो ही जाती है, उससे भी ये ओषधियाँ हमें बचाएँ।

भावार्थ—पिछले मन्त्र में चार प्रकार की ओषधियों का वर्णन था। प्रस्तुत मन्त्र में चार प्रकार के रोगों का वर्णन है। सम्भवतः इन्हें यथासंख्य ले-सकना सम्भव हो। चारों ओषधियाँ चारों विकारों को दूर करें।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—वैद्याः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

रोग-निवारण

अवपतन्तीरवदन्दिवऽओषधयस्परि।
यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः ॥९१॥

१. गत मन्त्रों का ऋषि **भिषक्**=चारों रोगों का निवारण करता है, अतः 'वरुण' (निवारण करनेवाला) बन गया है। यह वरुण कहता है कि **दिवः परि**=द्युलोक के समीप से **अवपतन्तीः**=नीचे आती हुई, वृष्टि-बिन्दु के रूप में भूमि पर गिरती हुई **ओषधयः**=ओषधियाँ **अवदन्**=परस्पर बात-सी करती हैं कि २. **यम्**=जिस **जीवम्**=अनुत्क्रान्तप्राण पुरुष को **अश्नवामहै**=हम प्राप्त होती हैं **सः पुरुषः**=वह पुरुष **न रिष्याति**=हिंसित नहीं होता। ओषधियाँ मनुष्य की रक्षा करती हैं। ३. 'ये ओषधियाँ द्युलोक से नीचे आई हैं', अतः अलौकिक दिव्य गुणोंवाली हैं।

भावार्थ—ओषधियाँ दिव्य हैं। वृष्टिजल से इनका उत्पादन हुआ है। ये यदि जीवित पुरुष तक पहुँच जाएँ तो फिर उसे जाने नहीं देतीं, उसे जिला ही देती हैं।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—वैद्याः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

उत्तम ओषधि के लक्षण

याऽओषधीः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः।
तासामसि त्वमुत्तमारं कामाय शꣳहृदे ॥९२॥

१. 'वरुण' (वैद्य) रोग का निदान करके ओषधि का चुनाव (वरण) करता हुआ कहता है कि **याः ओषधीः**=जो ओषधियाँ **सोमराज्ञीः**=सोमरूप राजावाली हैं, अर्थात् जिन ओषधियों का राजा सोम है—सोमलता सर्वोत्तम ओषधि मानी गई है। **बह्वीः**=संख्या में अनन्त-सी हैं, हमारे शरीर की वृद्धि का कारण हैं (वह to increase), अङ्ग-प्रत्यङ्ग को दृढ़ करनेवाली हैं (वह to strengthen)। **शतविचक्षणाः**=(क) बहुवीर्य हैं अथवा (ख) रोगनिवारण में अनन्त (शत) चतुर (विचक्षण) हैं। (ग) (चक्षण=appearance) अनन्त आकृतियों व रूपोंवाली हैं। (घ) अपने रसास्वाद से भूख को बढ़ानेवाली हैं (eating—a relish to promote appetite=चक्षण) **तासाम्**=उन ओषधियों में **त्वम्**=तू **उत्तमा असि**=सर्वोत्तम है। २. तू इस रोगी के **कामाय**=रोगनिवारणरूप ईप्सित (मनोरथ) के लिए **अरम्**=पर्याप्त

हो तथा **हृदे**=हृदय के लिए **शं भव**=शान्ति देनेवाली हो। तेरा इसके हृदय पर कुछ अशुभ प्रभाव न पड़े। तेरे प्रयोग से इसका दिल बैठने (heart sink न करे) न लगे।

भावार्थ—ओषधि की विशेषताएँ निम्न हैं। १. ये अपने सोम गुण से दीप्त हों, अर्थात् घबराहट को दूर करनेवाली हों। २. शरीर की वृद्धि व अङ्गों की दृढ़ता का कारण बनें। ३. बहुवीर्य हों—रोग को झट दूर करें। ४. रोगनिवारणरूप मनोरथ को पूरा करें। और ५. हृदय पर इनका कोई कुप्रभाव न हो।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—वैद्याः। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

ओषधि को गुणवत्तर करना

याऽओषधीः सोमराज्ञीर्विष्ठिताः पृथिवीमनु।
बृहस्पतिप्रसूताऽअस्यै सन्दत्त वीर्यम्॥९३॥

१. **याः ओषधीः**=जो ओषधियाँ **सोमराज्ञीः**=सोमौषधिरूप राजावाली हैं—'सोम' जिनका मुखिया है, जो **पृथिवीम् अनु**=इस पृथिवी पर **विष्ठिताः**=विशेषरूप से स्थित हैं, जिनका इन पार्थिव ओषधियों में विशिष्ट स्थान है, वे **बृहस्पतिप्रसूताः**=प्रभु से उत्पन्न की गई अथवा चतुर्वेदवेत्ता विद्वान् से प्रयुक्त की जाकर **अस्यै**=इस मुझसे दी जानेवाली औषध को **वीर्यम् संदत्त**=अधिक शक्ति दें। २. इस मन्त्रार्थ में स्पष्ट है कि कई ओषधियाँ ऐसी हैं जो इस पृथिवी पर अपना एक विशिष्ट ही स्थान रखती हैं और अन्य ओषधियों में मिलकर उनके गुणों को कई गुणा कर देती हैं। ३. 'अस्यै.संदत्त वीर्यम्' का यह अर्थ भी हो सकता है कि इस रोगिणी स्त्री के लिए शक्ति दें। (जयदेवकृत—भाष्य में)

भावार्थ—ओषधियों के परस्पर गुण-वीर्य-विपाक की अनुकूलता से ही दातव्य ओषधि के योग बनाने चाहिएँ।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—भिषजः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

समीप व दूर की ओषधियाँ

याश्चेदमुपशृण्वन्ति याश्च दूरं परागताः।
सर्वाः सङ्गत्य वीरुधोऽस्यै सन्दत्त वीर्यम्॥९४॥

१. ओषधियों को पुरुषविध करके सम्बोधन करता हुआ 'वरुण' कहता है कि हे ओषधियो! **याः च**=तुममें से जो **इदम्**=इस मेरे वचन को **उपशृण्वन्ति**=समीपता से सुनती हैं, **याः च**=और जो **दूरं परागताः**=अति दूर-दूर देश से व्यवहित होकर 'मेरे वचन को नहीं सुनती' वे **सर्वाः**=सब **सङ्गत्य**=मिलकर **वीरुधः**=विविध रोगों को रोकनेवाली ओषधियाँ **अस्यै**=इस रोगिणी स्त्री के लिए **वीर्यं संदत्त**=शक्ति दें।

भावार्थ—समीप व दूर स्थित सब ओषधियाँ मिलकर इस रोगिणी स्त्री को शक्ति प्रदान करें।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—वैद्याः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

ओषधि-खनन

मा वो रिषत् खनिता यस्मै चाहं खनामि वः।
द्विपाच्चतुष्पादस्माकꣳसर्वमस्त्वनातुरम्॥९५॥

१. हे ओषधियो! (क) **वः**=आपका **खनिता**=खोदनेवाला **मा रिषत्**=मत हिंसित हो, अर्थात् तुम्हारे खोदने में खोदनेवाले को इस प्रकार की चोट आदि न आए जो अन्ततः उसकी हिंसा का कारण सिद्ध हो। (ख) अथवा **खनिता**=खोदनेवाला **वः**=आपको **मा रिषत्**=हिंसित न करे। तुम्हें जड़ से ही न उखाड़ दे। **'ओषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषम्'** का यही अभिप्राय है। २. **च**=और वह रोग भी नष्ट हो **यस्मै**=जिसके लिए **अहम्**=मैं **वः**=तुम्हें **खनामि**=खोदता हूँ। जिस रोग के लिए मूल को भी खोदा जाता है, उससे रोगी पुरुष का रोग अवश्य दूर हो जाए। ३. हे ओषधियो! तुम्हारी इस कृपा से **अस्माकम्**=हमारे **द्विपात् चतुष्पात्**=दोपाये मनुष्य व चौपाये गवादिक पशु **सर्वम्**=सब **अनातुरम्**=नीरोग **अस्तु**=हों।

भावार्थ—हम ओषधियों के मूल को नष्ट न करें। हम सब नीरोग हों।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—वैद्याः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

ओषधियों की ओषधिराज से बातचीत

ओषधयः समवदन्त सोमेन सह राज्ञा।
यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तꣳराजन् पारयामसि ॥९६॥

१. 'सोम' ओषधियों का राजा माना जाता है। यहाँ काव्यमय भाषा में उन ओषधियों को चेतन मानकर ओषधियों की ओषधिराज—सोम से वार्तालाप का उल्लेख करते हैं कि **ओषधयः**=ओषधियाँ **राज्ञा सोमेन सह**=अपने राजा सोम के साथ **समवदन्त**=बातचीत करती हैं कि २. **यस्मै**=जिस भी रोगी के लिए **ब्राह्मणः**=एक ज्ञानी वैद्य **कृणोति**=हमें करता है, अर्थात् हमारे पत्र, पुष्प, फल, मूल आदि से जिस भी रोगी की चिकित्सा करता है, हे **राजन्**=सोम! **तं पारयामसि**=उस रोगी को हम रोग से पार कर देती हैं। उसके रोग को समाप्त करके उसे हम फिर से जिला देती हैं। ३. यहाँ मन्त्र में 'ब्राह्मणः' शब्द का बड़ा महत्त्व है। वैद्य के लिए विद्वान्—अपनी विद्या में निष्णात होना आवश्यक है। 'नीम हकीम तो खतराये जान ही है'। साथ ही उसे आस्तिक वृत्ति का भी होना चाहिए। अन्यथा वह रोगी के स्वास्थ्य की अपेक्षा अपनी जेब के स्वास्थ्य का अधिक ध्यान करेगा।

भावार्थ—वैद्य का विद्वान् व आस्तिक होना आवश्यक है। ऐसा ही वैद्य औषध-प्रयोग से रोगी को नीरोग कर पाएगा।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—भिषग्वराः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

विविध रोगों का नाश

नाशयित्री बलासस्यार्शसऽउपचितामसि।
अथो शतस्य यक्ष्माणां पाकारोरसि नाशनी ॥९७॥

१. पिछले मन्त्र का ब्राह्मण=ज्ञानी, आस्तिक वैद्य उस-उस ओषधि को हाथ में लेता है और कहता है कि तू **बलासस्य**=(बलम् अस्यति) बल को क्षीण करनेवाले क्षयरोग की **नाशयित्री असि**=नाश करनेवाली है। २. **अर्शसः**=मूलेन्द्रिय—गुदा की व्याधि बवासीर की तू नाशिका है। ३. **उपचिताम्**=(शरीरे ये उपचीयन्ते) शरीर को कुछ सोजवाला कर देनेवाले 'श्वयथु-गडु-श्लीपद' आदि रोगों की तू नाशिका है। ४. **अथो**=और **यक्ष्माणां शतस्य**=सैकड़ों ही रोगों की तू नाश करनेवाली है। **पाकारोः**=मुखपाक-क्षतादि की अथवा (अस=व्यथा) अन्नपाक की जो पीड़ा, अर्थात् मन्दाग्नित्व है, उसकी तू **नाशनी असि**=नाश

करनेवाली है।

भावार्थ—उस-उस रोग के नाश करनेवाली औषध को जानकर हम उस-उस रोग से मुक्त होने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—वैद्याः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

ओषधि खननकर्त्ता

त्वां गन्धर्वाऽअखनँस्त्वामिन्द्रस्त्वां बृहस्पतिः।
त्वामोषधे सोमो राजा विद्वान् यक्ष्मादमुच्यत॥९८॥

१. हे ओषधे! **त्वाम्**=तुझे **गन्धर्वाः**=गन्धर्वों ने **अखनन्**=खोदा है, इष्ट-कार्य की सिद्धि के लिए भूमि से प्राप्त किया है। २. **त्वाम्**=तुझे **इन्द्रः**=इन्द्र ने खोदा है। **त्वाम्**=तुझे **बृहस्पतिः**=बृहस्पति ने खोदा है। ४. हे **ओषधे**=ओषधे! **त्वाम्**=तुझे **विद्वान्**=अच्छी प्रकार जानता हुआ—तेरे सामर्थ्य को समझकर उपयोग करता हुआ **सोमः राजा**=सोम राजा **यक्ष्मात्**=रोग से **अमुच्यत**=छूट गया है। ५. यहाँ मन्त्र में ओषधि को खोदनेवाले या उसका समझकर प्रयोग करनेवाले चार व्यक्ति हैं—'गन्धर्व, इन्द्र, बृहस्पति, सोमराजा'। 'गन्धर्व' भूमिविज्ञानवित् विद्वान् हैं (गां भूमिं भूमिविज्ञानं धारयन्ति)। 'इन्द्र' परमैश्वर्यशाली राजा है (इदि परमैश्वर्ये)। 'बृहस्पति'=ब्रह्मणस्पति=चारों वेदों का विद्वान् पुरुष है और 'सोमराजा'=सौम्य स्वभाववाला व्यवस्थित जीवनवाला पुरुष है। पहले तीन ने खोदा है, चौथा उपयोग करके रोग से मुक्त हुआ है। सम्भवतः पहले तीन शब्द वैद्य की व औषधालय के प्रबन्धकों की विशेषताओं का संकेत करते हैं। इन्हें भूमिविज्ञानवित् व ज्ञानी होना चाहिए। रोगी जितना शान्ति धारण करेगा, क्रोधादि को छोड़कर सौम्य और नियमित जीवनवाला बनेगा, उतनी ही जल्दी रोग से मुक्त हो पाएगा। अथवा ये सब शब्द वैद्य के ही गुणों का प्रतिपादन करते हैं। (क) यह भूमिविज्ञानवित् (गन्धर्व) हो, जितेन्द्रिय हो (इन्द्र), ज्ञानी हो (बृहस्पति), सौम्य आकृति व स्वभाववाला हो (सोम) व्यवस्थित जीवनवाला हो (राजा)। ऐसा ही वैद्य रोगी को ठीक कर सकता है।

भावार्थ—वैद्य 'भूमिविज्ञानवित् व ज्ञानी हो, शान्त व व्यवस्थित जीवनवाला हो।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—ओषधिः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

सहमाना

सहस्व मेऽअरातीः सहस्व पृतनायतः।
सहस्व सर्वं पाप्मानꣳसहमानास्योषधे॥९९॥

१. हे **ओषधे**=दोषों का दहन करनेवाली (उष दाहे) ओषधे! **मे**=मेरे **अरातीः**=शत्रुभूत रोगों को **सहस्व**=तू पराभूत कर। इन्हें मेरे शरीर पर आधिपत्य न जमाने दे। २. **पृतनायतः**=सेना की भाँति आचरण करनेवाले, अर्थात् जैसे सेना अपने शत्रुओं पर आक्रमण करती है उसी प्रकार मुझपर आक्रमण करनेवाले इन रोगों को **सहस्व**=मसल डाल (षह मर्षणे)। २. इस प्रकार मेरे शरीर से सब रोगों को दूर करके मन में रहनेवाले **सर्वं पाप्मानम्**=सारे पापों को अथवा सब अशुभवृत्तियों को **सहस्व**=कुचल डाल। इन ओषधियों से शरीर की व्याधियाँ तो दूर हों ही, ये आन्तरिक—मन में रहनेवाली आधियों को भी समाप्त कर दें। ३. हे ओषधे! तू **सहमाना असि**=है ही रोगों का पराभव करनेवाली।

भावार्थ—ओषधियाँ शत्रुरूप रोगों को नष्ट करती हैं, उनपर आक्रमण करनेवाली होती हैं।

सूचना—सम्भवतः 'अराति' शब्द बहुत न फैलनेवाले रोगों के लिए प्रयुक्त हुआ है और पूतनायतः=फैलनेवाले (epidemics) रोगों के लिए आया है।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—वैद्याः। **छन्दः**—विराड्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

वैद्य, रोगी, औषध

दीर्घायुस्तऽओषधे खनिता यस्मै च त्वा खनाम्यहम्।
अथो त्वं दीर्घायुर्भूत्वा शतवल्शा वि रोहतात्॥१००॥

१. हे **ओषधे**=रोगनाशकद्रव्य! **ते खनिता**=तेरा खोदनेवाला—भूम्यादि के गुणविज्ञान से युक्त वैद्य जो तुझे भूमि से प्राप्त करता है वह **दीर्घायुः**=दीर्घ जीवनवाला हो, अर्थात् तुझे प्राप्त करने की प्रक्रिया में उसे किसी प्रकार की हानि न हो जाए। २. **च**=और **यस्मै**=जिसके लिए **अहम्**=मैं **त्वा**=तुझे **खनामि**=खोदता हूँ, वह रोगी भी तेरे द्वारा—तेरा प्रयोग कराये जाने पर नीरोग होकर दीर्घ जीवनवाला हो। ३. **अथो** और निश्चय से **त्वम्**=तू भी **दीर्घायुः**=दीर्घ जीवनवाली **भूत्वा**=होकर **शतवल्शा**=असंख्य अंकुरोंवाली होकर **विरोहतात्**= प्रादुर्भूत हो—फैल, अर्थात् **'ओषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषम्'** के अनुसार कोई भी खोदनेवाला तेरे मूल को नष्ट न कर दे। बचे हुए मूलवाली तू शतशः अंकुरोंवाली होकर फैलती रहे। तेरा अभाव न हो जाए।

भावार्थ—वैद्य, रोगी व औषध तीनों दीर्घ जीवनवाले हों।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—भिषजः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

उपस्ति

त्वमुत्तमास्योषधे तव वृक्षाऽउपस्तयः।
उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं योऽअस्माँ२॥ऽअभिदासति॥१०१॥

१. हे **ओषधे**=रोगदाहक औषध! **त्वम्**=तू=**उत्तमा असि**=उस-उस रोग को नष्ट करने में सर्वोत्तम है। २. **वृक्षाः**=शाल-ताल-तमाल-वट आदि वृक्ष **तव**=तेरे **उपस्तयः**=समीप संहत होकर विद्यमान हैं। 'उपस्त्यायन्ति' वे वृक्ष तुम्हारे उपकार के लिए और उपद्रव के निराकरण के लिए समीप ही संहत होकर ठहरे हैं। ३. (क) इसी प्रकार **यः**=जो **अस्मान्**=हमें **अभिदासति**=(दासतिः दानकर्मा—नि० ३।२०) उत्तमोत्तम पदार्थ देता है **सः**=वह पुरुष **अस्माकम्**=हमारा **उपस्तिः**=उपासन करनेवाला **अस्तु**=हो। जिस प्रकार ओषधि के समीप स्थित वृक्ष उसके लिए हितकर होते हैं, उसी प्रकार हमारे समीप स्थित व्यक्ति हमारे लिए हितकर हों। (ख) 'दासति' धातु हिंसा अर्थ में भी आती है तब अर्थ इस प्रकार होगा कि **यः**=जो **अस्मान् अभिदासति**=हमारी हिंसा करता है **सः**=वह हमारा विरोध छोड़कर **अस्माकम्**=हमारा **उपस्तिः अस्तु**=उपासक बन जाए। जो रोग हमें समाप्त कर रहा था, वह हमारे लिए कल्याणकर हो जाए।

भावार्थ—ओषधियाँ रोग-निवारण करनेवाली हैं, परन्तु हमें विरोधी से कभी औषध नहीं लेनी चाहिए, हितचिन्तक से ही औषध का ग्रहण करें।

सूचना—यहाँ मन्त्र के उत्तरार्ध में ऐसा संकेत स्पष्ट है कि विरोधी व्यक्ति से ली गई औषध गुणकारी न होकर हमारी समाप्ति ही कर देगी। हम सदा औषध उसी वैद्य से लें जो हमारा उपासक व हितू हो।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः। **देवता**—कः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

हविषा विधेम

मा मा॑ हिꣳसीज्जनि॒ता यः पृ॑थि॒व्या यो वा॒ दिव॑ꣳस॒त्यध॑र्मा॒ व्यान॑ट्।
यश्चा॒पश्च॒न्द्राः प्र॑थ॒मो ज॒जान॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥१०२॥

१. पिछले मन्त्रों में भूमि से उत्पन्न होनेवाली तथा वृष्टि के कारणभूत सूर्यादि से परिपक्व की गई ओषधियों का सविस्तर वर्णन हुआ है, परन्तु भूमि-सूर्य आदि इन सबका उत्पादक भी तो वह प्रभु है, अतः प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि उस ज्ञान-धन प्रभु की उपासना करता है। वे प्रभु 'हिरण्यगर्भ' हैं। यह उपासक भी 'हिरण्यगर्भ' कहलाने लगता है। यह प्रार्थना करता है कि—२. **यः पृथिव्याः जनिता**=जो पृथिवी का उत्पादक प्रभु है, वह **मा**=मुझे **मा हिंसीत्**=नष्ट न होने दे। वह इस पृथिवी में ऐसी गुणकारी ओषधियों को जन्म देता है, जिससे मेरे सब रोग दूर हो जाते हैं। ३. वह **सत्यधर्मा**=सत्य से इन लोक व लोकान्तरों का धारण करनेवाला—अपनी अटल व्यवस्था से सब लोकों को हिंसित होने से रक्षित करनेवाला प्रभु **यः**=जो **वा**=निश्चय से **दिवम्**=द्युलोक को **व्यानट्**=व्याप्त कर रहा है अथवा (असृजत्) उत्पन्न करता है, मुझे हिंसित न होने दे। ४. (क) **च**=और वह प्रभु मुझे हिंसित न होने दे **यः**=जिसने **आपः**=जलों को तथा **चन्द्राः**=ओषधियों में उत्तम रसों का सञ्चार करनेवाले चन्द्रलोकों को **प्रथमः**=सबसे प्रथम होते हुए (हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे) **जजान**=पैदा किया है। (ख) **यश्चापश्चन्द्राः**=का अर्थ ब्राह्मणग्रन्थों में 'मनुष्य' किया गया है 'मनुष्य एव हि यज्ञेनासुवन्ति चन्द्रलोकम्' मनुष्य ही तो यज्ञों से चन्द्रलोक को प्राप्त करते हैं, अतः जिसने मनुष्यों को जन्म दिया है, वह प्रभु उन्हें हिंसित करनेवाला न हो। वह प्रभु 'भूमि, द्युलोक, जल, चन्द्र' आदि उन सब लोकों का निर्माण करता है जो उत्तम ओषधियों के उत्पादन में भाग लेते हैं। ५. इस **कस्मै**=आनन्दस्वरूप **देवाय**=सब औषधों के देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **विधेम** =हम पूजा करें। प्रभु तो उत्तमोत्तम ओषधियों से हमें नीरोग करने में लगे हैं। यदि हम दानवृत्ति को छोड़कर 'स्वोदरम्भरि' ही बन जाएँगे तो पेटू बनकर नीरोग कैसे हो सकेंगे! अतः प्रभु की पूजा इसी प्रकार होगी कि हम दानपूर्वक अदन करनेवाले बनकर रोगनिवारण में सहायक बनें।

भावार्थ—वे प्रभु पृथिवी, द्युलोक, जल व चन्द्रादि के निर्माता हैं। ये सब लोक हमारे कल्याण के लिए हैं। कल्याण तभी होगा जब हम दानपूर्वक खानेवाले बनें। ऐसा बनने में ही सच्ची प्रभु-पूजा है।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदुष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

यज्ञ व पृथिवी की उत्पादन-शक्ति

अ॒भ्यावर्त्तस्व पृथिवी य॒ज्ञेन॒ पय॑सा स॒ह। व॒पां तेऽअ॒ग्निरि॑ष्ि॒तोऽअ॑रोहत्॥१०३॥

१. मन्त्र संख्या ७९ में यज्ञों से ओषधियों के उत्पादन का वर्णन हुआ है। पिछले मन्त्र में इसीलिए यज्ञिय वृत्तिका उपदेश हुआ है कि इसी से तुम प्रभु की सच्ची परिचर्या

करोगे। 'हविषा विधेम'=हवि के द्वारा ही उपासना होती है। यहाँ कहते हैं कि हे **पृथिवि**=भूमे! तू **यज्ञेन**=यज्ञ से **अभ्यावर्त्तस्व**=हमारे सम्मुख चारों ओर वर्त्तमान हो, अर्थात् हम तुझपर चारों ओर यज्ञों को होता हुआ देखें। २. और हे पृथिवि ! तू इन यज्ञों के द्वारा सदा **पयसा सह**=आप्यायन करनेवाले, उत्पादक शक्ति को बढ़ानेवाले मेघजलों के साथ वर्त्तमान हो। 'अग्निहोत्रं स्वयं वर्षम्'=अग्निहोत्र से वर्षा तो होगी ही। वह 'पयो-दों' (जल-द) से प्राप्त जल भूमि का सचमुच आप्यायन=वर्धन करनेवाला होगा। ३. इस प्रकार **इषितः अग्निः**= यज्ञकुण्डों में प्रेरित हुआ-हुआ यह अग्नि हे भूमे! **ते**=तेरी **वपाम्**=(बीजजन्म व प्रादुर्भाव) वपनशक्ति=बीज बोना व उनको शतगुणित करके प्रकट करने की शक्ति को **अरोहत्**=ऊँचा चढ़ा दे, बढ़ा दे। ४. एवं, स्पष्ट है कि जब नियमपूर्वक यज्ञ होते हैं तब वृष्टिजल से पृथिवी का आप्यायन होता है और इस प्रकार यह यज्ञाग्नि पृथिवी की उत्पादनशक्ति को बढ़ानेवाली होती है। जो भी राष्ट्र इस प्रकार यज्ञ के महत्त्व को समझ लेता है, वह इस पृथिवि के गर्भ से हित-रमणीय अन्नों को प्राप्त करता है, अतः उसका नाम 'हिरण्य-गर्भ' हो जाता है।

भावार्थ—हम यज्ञ करें, बादल पृथिवी को सींचेंगे और इस प्रकार यह यज्ञाग्नि पृथिवी की उत्पादनशक्ति को बढ़ा देगी।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिग्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

यज्ञिय अन्न

अग्ने यत्ते शुक्रं यच्चन्द्रं यत्पूतं यच्च यज्ञियम्। तद्देवेभ्यो भरामसि ॥१०४॥

१. गत मन्त्र में कहा है कि अग्नि पृथिवी की उत्पादनशक्ति को बढ़ा देता है। यज्ञाग्नि जिस अन्न के उत्पादन का कारण बनती है, 'वह अन्न कैसा होता है' इस बात का प्रतिपादन प्रस्तुत मन्त्र में है। कहते हैं कि हे **अग्ने**=यज्ञिय अग्ने! **यत्**=जो **ते**=तेरी सहायता से उत्पन्न हुआ (क) **शुक्रम्**=शक्ति व वीर्य का जनक (ख) **यत् च**=और साथ ही जो **चन्द्रम्**=आह्लादजनक (चदि आह्लादे) सौम्यता को उत्पन्न करनेवाला, (ग) **यत्**=जो **पूतम्**=हृदय को पवित्र करनेवाला, (घ) **यत् च**=और जो **यज्ञियम्**=प्रभु से सङ्गतीकरण का साधनभूत अन्न है **तत्**=उस अन्न को **देवेभ्यः**=अपने अन्दर दिव्य गुणों की उत्पत्ति के लिए **भरामसि**=धारण करते हैं। उस अन्न से हम अपना भरण-पोषण करते हैं, जिससे हम दिव्य गुणों को धारण कर सकें। २. एवं, मन्त्रार्थ में यह बात स्पष्ट है कि यज्ञों द्वारा वृष्टिजलों से उत्पन्न हुए-हुए अन्न (क) हमारे वीर्य के वर्धक होंगे (शुक्रं=वीर्यम्), (ख) वे हमारी क्रियाशीलता को बढ़ानेवाले होंगे (शुक् गतौ), (ग) ये अन्न हमारी मनोवृत्ति को सदा आह्लादमय बनाएँगे (चदि आह्लादे), हम ईर्ष्या-द्वेषादि की बुरी वृत्तियों से ऊपर उठेंगे, (घ) ये हमारे जीवनों को पवित्र बनाएँगे (पू=पवने=purify), हमारे शरीर व मन व्याधि व आधियों से रहित होंगे और (ङ) अन्ततः ये अन्न हमें परस्पर मिलकर चलना सिखाएँगे (यज्=सङ्गतीकरण) और उस प्रभु से भी हमारा मेल करानेवाले होंगे। (च) इन अन्नों के सेवन से हममें दिव्य गुणों की वृद्धि होगी, दैवी सम्पत्ति के हम स्वामी होंगे। (छ) इस प्रकार ये अन्न हमारा उत्तम भरण-पोषण करेंगे, अतः ये ही अन्न सेवनीय हैं, हमारे लिए हित-रमणीय=**हिरण्य** हैं। ये ही हमारे उदर=**गर्भ** में जाने योग्य हैं। ऐसा करके ही हम हिरण्यगर्भ होंगे।

भावार्थ—यज्ञिय अन्नों का सेवन हमें पवित्र करेगा।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः। देवता—विद्वान्। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

यज्ञ के लाभ 'अन्नाभाव तथा रोग का विनाश'

इषमूर्जमहमितऽआदमृतस्य योनिं महिषस्य धाराम्।
आ मा गोषु विशत्वा तनूषु जहामि सेदिमनिराममीवाम्॥१०५॥

१. पिछले मन्त्र के वर्णन के अनुसार मैं यज्ञादि करता हुआ, उनसे उत्पन्न अन्नों का ही सेवन करता हूँ। यहाँ कहते हैं कि **अहम्**=मैं **इतः**=इस नित्यप्रति सर्वत्र किये जानेवाले यज्ञ से **इषम्**=अन्न को व **ऊर्जम्**=रस को **आदम्**=ग्रहण करता हूँ। इस यज्ञिय चारे का भक्षण करनेवाली गौओं से प्राप्त गोरस (दूध) भी यज्ञिय होता है, उसी दूध का मैं स्वीकार करता हूँ। २. क्योंकि यह अन्न व रस **ऋतस्य योनिम्**=ऋत का कारण है, ऋत का जन्मस्थान है। इस अन्न-रस के सेवन से मुझमें 'ऋत' की भावना उत्पन्न होती है, मेरे सब कार्य बड़े ठीक—ऋत=[right] को लिये हुए होते हैं। मैं सब कार्यों को यथास्थान, यथासमय करनेवाला बनता हूँ। ३. यह अन्न **महिषस्य**=(मह पूजायाम्) पूजा के योग्य प्रभु का **धाराम्**=धारण करानेवाला है। इस अन्न के सेवन से बुद्धि सात्त्विक होकर मनुष्य के हृदय में प्रभु का दर्शन कराने में सहायक होती है। अथवा 'धारा' शब्द 'वाङ्' नामक है। यह अन्न हमें उस महनीय प्रभु की वेदवाणी को समझने के योग्य बनाता है। ४. यह अन्न **मा**=मुझे **गोषु**=(गावः इन्द्रियाणि) इन्द्रियों के निमित्त, अर्थात् इन्द्रियशक्तियों के विकास के लिए **आविशतु**=प्राप्त हो, मेरे शरीर में अन्न का प्रवेश इन्द्रियों के बल को बढ़ाने के लिए हो। ५. यह अन्न **तनूषु**=पञ्चकोशों के स्वास्थ्य के लिए **आविशतु**=मुझमें प्रवेश करे। ६. मैं **अनिरां सेदिम्**=(इरा=अन्न) अन्नाभाव के कारण उत्पन्न अवसाद—विनाश को **जहामि**=छोड़ता हूँ। यज्ञों से देश में अन्नाभाव की स्थिति कभी उत्पन्न नहीं होती। **'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः पर्जन्यादन्नसम्भवः'**=यज्ञ से बादल, और बादल से अन्न की उत्पत्ति होती है। ७. मैं इन यज्ञों से **अमीवाम्**=रोगों को **जहामि**=छोड़ता हूँ **'मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञात-यक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्'**=ज्ञान के द्वारा मैं तुझे अज्ञात रोगों व राजरोगों से मुक्त करता हूँ। एवं, यज्ञ से अन्नाभाव व रोग दोनों ही दूर होते हैं और परिवार के भोजन की चिन्ता से उत्पन्न परेशानियों के कारण हमारे घरों में अन्धकार नहीं होता। 'हिरण्यं ज्योतिः गर्भे यस्य'=जिन घरों में प्रकाश-ही-प्रकाश है, ऐसे हिरण्यगर्भ हम बनते हैं।

भावार्थ—१. यज्ञ से वह अन्न-रस प्राप्त होता है जो १. हमारे जीवन को व्यवस्थित=ऋतवाला करता है, २. यह हमें पूज्य प्रभु के प्रति झुकाववाला करता है तथा उसकी वाणी को समझने के योग्य बनता है, ३. इससे हमारी इन्द्रिय-शक्तियों का विकास होता है और ४. हमारे शरीर अविकृत होते हैं। ५. इन यज्ञों से हमारे घरों में अन्नाभाव दूर होता है और रोग विनष्ट होते हैं।

ऋषिः—पावकाग्निः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृत्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

नातिमानिता Absence of Pride

अग्ने तव श्रवो वयो महि भ्राजन्तेऽअर्चयो विभावसो।
बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यं दधासि दाशुषे कवे॥१०६॥

१. 'मनुष्य अपने जीवन को उन्नत करके गर्वित न हो जाए', अतः वह प्रभु का

स्मरण करते हुए कहता है कि **अग्ने**=मेरी सब उन्नति के साधक प्रभो! **तव श्रवः**=मेरे जीवन में जो कुछ भी थोड़ी-बहुत अच्छाई आ पाई है वह तेरी श्री-कीर्ति है, उसमें मेरा कुछ नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि (तव) **वयः**=मेरा यह जीवन आपका ही है—आपकी कृपा से ही मैं जी रहा हूँ। यह जीवन प्राप्त भी आपकी कृपा से ही हुआ है। २. हे **विभावसो**=ज्ञान-धन प्रभो! **अर्चयः**=आपकी ज्ञानदीप्तियाँ **महि भ्राजन्ते**=खूब ही चमकती हैं। मेरे हृदय में भी आपके ही ज्ञान का प्रकाश होता है। मैं अपनी मूर्खता से हृदय पर राग-द्वेष का ऐसा आवरण डाल बैठता हूँ जो मेरे हृदय को मलिन कर देता है और मुझे उस ज्ञान के प्रकाश को देखने के अयोग्य कर देता है। ३. हे **बृहद्भानो**=(बृहि वृद्धौ) वृद्धि के कारणभूत ज्ञानमय प्रभो ! आपके उस ज्ञान को प्राप्त करके ही तो मेरी सब प्रकार की उन्नति सम्भव होती है। आप **शवसा**=(शवतिर्गतिकर्मा) गति के हेतु से—मेरे जीवन को क्रियाशील बनाने के हेतु से **उक्थ्यं वाजम्**=स्तुत्य बल को **दधासि**=धारण करते हैं। आपकी कृपा से मुझे शक्ति प्राप्त होती है, जिसके द्वारा मैं सदा लोकहित में प्रवृत्त होता हूँ और इस प्रकार मेरी शक्ति मेरे यश का कारण बनती है। **उक्थ्यं वाजम्**=(यशो बलम्) आप मुझे यशस्वी बल प्राप्त कराते हैं। ४. हे **कवे**=क्रान्तदर्शिन् प्रभो! आप प्रत्येक वस्तु की वास्तविकता को जानते हैं—मेरी स्थिति को भी मुझसे अधिक अच्छी प्रकार आप समझते हैं और मुझ **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए—आपके प्रति अपना समर्पण करनेवाले के लिए—आप यशस्वी बल देते हैं। आपकी शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर मैं संसार में शुभ कार्यों में प्रवृत्त हो पाता हूँ। इन सब कार्यों के अन्दर रहनेवाला यश आपका ही है। आपकी कृपा से मैं वस्तुतत्त्व को समझूँगा और किसी भी कार्य का गर्व न करूँगा।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान देते हैं—वही यशस्वी बल प्राप्त कराते हैं। सब प्रभु की ही महिमा है—हमारा जीवन भी उस प्रभु की ही कृपा से है। हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले बनें और इस प्रकार उन्नत होकर अभिमान से फिर अवनत न हो जाएँ।

ऋषिः—पावकाग्निः। **देवता**—विद्वान्। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

पावकाग्नि

पावकवर्चाः शुक्रवर्चाऽअनूनवर्चाऽउदियर्षि भानुना।
पुत्रो मातरा विचरन्नुपावसि पृणक्षि रोदसीऽउभे॥१०७॥

१. गत मन्त्र के अनुसार कोई मनुष्य खूब उन्नति करता है। 'अग्नि' बनता है, आगे बढ़ता है और साथ ही उस उन्नति का गर्व न करके अपने को पवित्र बनाये रखता है, अतः इसका नाम 'पावकाग्नि' हो जाता है। प्रभु इस पावकाग्नि से कहते हैं कि २. तू **पावकवर्चाः**=पवित्र करनेवाले वर्चस्वाला है। तेरा 'वर्चस्' तुझे पवित्र बनाता है। वस्तुतः शक्ति के अभाव में ही अपवित्रता आती है। शक्ति के साथ पवित्रता का निवास है। वीरत्व के साथ वर्चस् (virtue) रहता है। **शुक्रवर्चाः**=तेरा वर्चस्—तेरी शक्ति तुझे गतिशील बनाती है (शुक् गतौ) शक्ति के अभाव में क्रिया सम्भव ही नहीं रहती, शक्ति ही क्रिया में परिवर्तित होती है। ४. **अनून-वर्चा**=(न ऊन वर्चस्) इस शक्ति के कारण तुझमें किसी प्रकार की न्यूतना नहीं रह जाती। क्या शारीरिक, क्या मानस व क्या बौद्ध सभी न्यूनताएँ इस वर्चस् से दूर हो जाती हैं। ५. तू **भानुना**=इस वर्चस् के कारण प्राप्त ज्ञान की दीप्ति से **उत् इयर्षि**=ऊपर-ही-ऊपर उठता है। यह ज्ञान तेरी सब उन्नतियों का कारण बनता है।

ज्ञान ही तो वस्तुतः तुझे पवित्र जीवनवाला बनाता है। ६. **पुत्रः**=पवित्रतावाला (पुनाति) और वासनाओं से अपना त्राण करनेवाला (त्रायते) होकर तू **मातरा**=माता व पिता की **विचरन्**=विशेषरूप से सेवा करता हुआ, उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न होने देता हुआ **उपावसि**=हमारे समीप (प्रभु के समीप) आता है (अव=मव=Move=गतौ)। वस्तुतः कोई भी व्यक्ति माता-पिता को कष्ट पहुँचाकर प्रभु-भक्त नहीं बन पाता। क्या उपहास की बात है कि एक व्यक्ति समर्थ होकर पितृयज्ञ की तो पूर्ण उपेक्षा कर रहा है और प्रभु के नाम पर मन्दिर बनवा रहा है अथवा कितने ही घण्टे प्रभु-कीर्तन में बिता रहा है। माता-पिता की सेवा न करनेवाला व्यक्ति प्रभु का प्रिय नहीं हो सकता। ७. हे पावकाग्ने! तू अपने जीवन में **उभे रोदसी**=इन दोनों लोकों को—द्युलोक व पृथिवीलोक को, अध्यात्म में शरीर व मस्तिष्क को **पृणक्षि**=समृद्ध करता है। तू शरीर को स्वस्थ बनाता है और मस्तिष्क को ज्ञान से उज्ज्वल करता है।

भावार्थ—पावकाग्नि के जीवन में माता-पिता की सेवा का प्रमुख स्थान है। इसी के द्वारा वह प्रभु की सच्ची उपासना करता है, स्वस्थ शरीरवाला बनता है और उज्ज्वल मस्तिष्कवाला।

ऋषिः—पावकाग्निः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृत्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

पावकाग्नि का प्रभु-स्तवन

ऊर्जो नपाज्जातवेदः सुशस्तिभिर्मन्दस्व धीतिभिर्हितः।
त्वेऽइषः सन्दधुर्भूरिवर्पसश्चित्रोतयो वामजाताः॥१०८॥

१. पावकाग्नि प्रभु का स्तवन करता हुआ कहता है कि **ऊर्जः नपात्**=हे प्रभो! आप मेरे बल व प्राणशक्ति को न गिरने देनेवाले हैं। आपकी कृपा से ही मेरी शक्ति स्थिर रहती है। आपका विस्मरण मुझे विषय-प्रवण व क्षीणशक्ति कर देता है। २. **जातवेदः**=हे प्रभो! सम्पूर्ण ज्ञान आपसे ही उत्पन्न होता है। मुझमें भी जो ज्ञान का लवलेश है, वह आपकी ही कृपा से है। ३. **सुशस्तिभिः**=उत्तम शंसनों के द्वारा—उत्तम स्तुति के द्वारा तथा **धीतिभिः**=ध्यान के द्वारा 'चित्तवृत्तिनिरोध' के द्वारा **हितः**=हृदय में स्थापित हुए-हुए आप **मन्दस्व**=(मन्दयस्व) हमारे जीवनों को उल्लासमय कीजिए। आपकी कृपा ही मेरे सब कष्टों को दूर करके मेरे जीवन में हर्ष को अंकुरित करनेवाली होगी। ४. हे प्रभो! जो भी व्यक्ति **त्वे**=आपमें **इषः**=अपनी इच्छाओं को **सन्दधुः**=धारण करते हैं, अर्थात् आपकी प्राप्ति ही जिनकी प्रबल कामना हो जाती है, वे (क) **भूरिवर्पसः**=(वर्पन्=form) बहुत आकृतियोंवाले होते हैं, अर्थात् वे अपने में बहुतों का समावेश करनेवाले— औरों से अपृथक् (अयुतोऽहम्) होते हैं। यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र के उपदेश के अनुसार 'बह्वीः' बहुत बनते हैं, एक नहीं रह जाते। स्वार्थ से ऊपर उठ परार्थ में स्थित होते हैं, इसीलिए (वर्पन् praise) बड़े यशवाले होते हैं—इनका जीवन उत्तम कर्मोंवाला होकर परार्थ व यज्ञ का साधक होकर यशस्वी बनता है। (ख) **चित्रोतयः**=ये अद्भुत रक्षणवाले होते हैं—वासनाओं से आश्चर्यजनकरूप में अपनी रक्षा करते हैं। अथवा चित्र (चिती संज्ञाने) ज्ञान के द्वारा अपनी रक्षा करनेवाले बनते हैं तथा (ग) **वामजातः**=(वामेषु प्रशस्तकर्मसु ज्ञाताः प्रसिद्धाः) उत्तम कर्मों में प्रसिद्ध होते हैं। इनके जीवन से सदा उत्तम ही कर्म होते हैं। इनके जीवन में सब वस्तुएँ सुन्दर-ही-सुन्दर होती हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तुति व ध्यान से अपने हृदयों में प्रभु की प्रतिष्ठा करें, तब १. हम अक्षीणशक्ति बनेंगे। २. हमारा ज्ञान बढ़ेगा। ३. हम एक-से बहुत हो जाएँगे अथवा प्रशंसात्मक कर्मों को ही करेंगे। ४. ज्ञान के द्वारा अपने को वासनाओं के आक्रमण से सुरक्षित कर पाएँगे तथा ५. हमारे जीवनों में सब वस्तुएँ सुन्दर-ही-सुन्दर होंगी।

ऋषिः—पावकाग्निः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

सानसि क्रतु

इरज्यन्नग्ने प्रथयस्व जन्तुभिरस्मे रायोऽअमर्त्य।
स दर्शतस्य वपुषो विराजसि पृणक्षि सानसिं क्रतुम् ॥१०९॥

१. प्रभु 'पावकाग्नि' से कहते हैं कि (क) **इरज्यन्** (इरज्यति ऐश्वर्यकर्मा—नि० २।२१) ऐश्वर्यवाला होता हुआ, अर्थात् सब इन्द्रियों, मन व बुद्धि का ईश्वर बनता हुआ, इनकी दासता से ऊपर उठता हुआ, अतएव (ख) **अमर्त्य**=विषयों के पीछे न मरनेवाले और (ग) **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **अस्मे रायः**=हमारे इन धनों को **जन्तुभिः**=गौ इत्यादि पशुओं से **प्रथयस्व**=विस्तृत करनेवाला हो। गौ इत्यादि के पालन से मनुष्य अपने ऐश्वर्य की वृद्धि कर पाता है। गोशालास्थापन='डेरीफार्म' स्वयं एक उत्तम व्यापार है। इन प्राप्त धनों को तू **जन्तुभिः**=प्राणियों के हेतु से **प्रथयस्व**=विस्तृत कर, अर्थात् प्राणियों के हित के लिए तू इनका विनियोग कर। यह अर्जित धन विषय-भोग जुटाने का साधन न हो जाए। २. यदि तू ऐसा कर पाता है तो **सः**=वह तू **दर्शतस्य वपुषः विराजसि**=दर्शनीय शरीर का राजा बनता है—तू बड़े उत्तम शरीरवाला होता है और ३. उस शरीर में तू **सानसिम्**=(षण सम्भक्तौ) सम्भजन—उपासन से युक्त **क्रतुम्**=प्रज्ञान व कर्म को **पृणक्षि**=(पूरयसि) पूरित करता है, अर्थात् अपने सुन्दर शरीर से तू उपासना करनेवाला होता है—तेरी यह उपासना प्रज्ञानपूर्वक किये जानेवाले कर्मों से होती है। वस्तुतः सौन्दर्य इसी बात पर तो निर्भर है कि वहाँ 'उपासना, प्रज्ञान व कर्म' तीनों का समन्वय हो पाया है।

भावार्थ—हम अपने ईश्वर हों। प्राणिहित के उद्देश्य से धनों का विनियोग करें। हमारे शरीर सुन्दर हों। उनमें 'उपासना, प्रज्ञान व कर्म' का समुच्चय हो।

ऋषिः—पावकाग्निः। **देवता**—विद्वान्। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

प्रभु का धारणीय

इष्कर्त्तारमध्वरस्य प्रचेतसं क्षयन्तꣳराधसो महः।
रातिं वामस्य सुभगां महीमिषं दधासि सानसिꣳरयिम् ॥११०॥

१. पावकाग्नि प्रभु से प्रार्थना करता है कि—आप **दधासि**=धारण व पोषण करते हो। किसका? (क) **अध्वरस्य इष्कर्त्तारम्**=हिंसारहित यज्ञादि कर्मों के सम्पादक का। जो व्यक्ति अपने जीवन को यज्ञमय बनाता है वह प्रभु का धारणीय बनता है। (ख) **प्रचेतसम्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले का। प्रभु उसे धारण करते हैं जो ऊँचा ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान ही तो उसे प्रभु के समीप पहुँचाता है। ज्ञानाभाव व अज्ञान मनुष्य को प्रभु से दूर करता है। अज्ञानियों से वह दूर है, ज्ञानियों के समीप। (ग) प्रभु उसे धारण करते हैं जो **राधसः क्षयन्तम्**=सफलता के, सिद्धि के साधनभूत धन का निवास-स्थान है (क्षि=निवास)। (घ) **महः**=(महस् power, light) जो शक्ति व प्रकाश का पुञ्ज है। (ङ) **वामस्य**

रातिम्=उत्तम प्रशस्य धन देनेवाले का। जो व्यक्ति सेवनीय सुन्दर धनों का दान करता है। २. उल्लिखत गुणों से युक्त पुरुष का हे प्रभो! आप धारण करते हो। ऐसे पुरुष के लिए आप **सुभगाम्**=उत्तम ऐश्वर्य के प्रापक **महीम्**=महनीय या पूजा की वृत्ति के जनक—**इषम्**=अन्न को **दधासि**=धारण करते हैं तथा **सानसिं रयिम्**=उस धन को धारण करते हैं जो सम्भजनीय है अथवा संविभागों के योग्य है, अर्थात् इस पुरुष को आप वह धन देते हैं जिसे यह सबके साथ बाँटकर खाता है।

भावार्थ—प्रभु 'यज्ञशील—ज्ञानी—सफलता के साधनाभूत धन के धारण करनेवाले, बल व प्रकाश के पुञ्ज और उत्तम वस्तुओं के दाता' का धारण करते हैं। इस पुरुष को प्रभु 'उत्तम ऐश्वर्य के प्रापक तथा पूजा की वृत्ति के जनक' अन्न को देते हैं तथा वह धन देते हैं जिसका वह दान करता है, जिसे बाँटकर खाता है।

ऋषिः—पावकाग्निः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराडार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

प्रभु-प्राप्ति का साधन

ऋ॒तावा॑नं महि॒षं वि॒श्वद॑र्शतम॒ग्निꣳसु॒म्नाय॑ दधिरे पु॒रो जना॑ः।
श्रुत्क॑र्ण॒ꣳस॒प्रथ॑स्तमं त्वा गि॒रा दैव्यं॑ मानु॒षा यु॒गा॥१११॥

१. पावकाग्नि प्रभु का आराधन करते हुए कहता है कि **जनाः**=अपना विकास करनेवाले लोग **सुम्नाय**=सुख-प्राप्ति के लिए **त्वा**=आपको **पुरः**=अपने सामने **दधिरे**=स्थापित करते हैं, अर्थात् वे सदा आपका स्मरण करते हैं। आपके स्मरणपूर्वक ही सब काम करने के कारण उनके कार्य अपवित्र नहीं होते और उनका जीवन सुखी होता है। २. उन आपको वे धारण करते हैं, जो आप (क) **ऋतावानम्**=ऋतवाले हैं। प्रभु से होनेवाले सब कार्य ठीक समय पर व ठीक स्थान पर हो रहे हैं। वस्तुतः प्रभु के तीव्र तप से ही तो 'ऋत और सत्य' की उत्पत्ति हुई है। (ख) **महिषम्**=वे प्रभु महनीय, पूजनीय हैं, महान् हैं। (ग) **विश्वदर्शतम्**=सबके दर्शनीय हैं अथवा सब विज्ञानों के द्रष्टा हैं। (घ) **अग्निम्**=वे अग्रेणी हैं—सबको आगे और आगे ले-चलनेवाले हैं। (ङ) **श्रुत्कर्णम्**=(शृणोत्याह्वानम्) प्रार्थना को सुननेवाले हैं। (च) **सप्रथस्तमम्**=अतिशयेन विस्तारवाले हैं। वे प्रभु सर्वव्यापक हैं—कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ वे न हों। (छ) **दैव्यम्**=(देव एव दैव्यः—स्वार्थे यः) वे प्रभु देव हैं अथवा देवों का हित करनेवाले हैं। ३. इस प्रभु को **मानुषा युगा**=मनुष्यों के युग्म अर्थात् दम्पती—पति-पत्नी **गिरा**=इस वेदवाणी के द्वारा, ज्ञान की वाणियों के द्वारा धारण करते हैं। घर में पति-पत्नी प्रभु के दिये हुए ज्ञान—वेद के स्वाध्याय द्वारा प्रभु को पानेवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु को आँख से ओझल न होने देनेवाले लोग पवित्र व सुखी जीवनवाले होते हैं। वेद के अध्ययन द्वारा पति-पत्नी प्रभु को पाते हैं।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—सोमः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

वाजस्य सङ्गथे

आप्या॑यस्व॒ समे॑तु ते वि॒श्वतः॑ सोम॒ वृष्ण्य॑म्। भवा॒ वाज॑स्य सङ्ग॒थे॥११२॥

गत मन्त्र के अनुसार अपने आराधक से प्रभु कहते हैं—१. **आप्यायस्व**=तू समन्तात् वर्धनवाला हो। उन्नति तेरा स्वभाव हो। तेरा शरीर बढ़ी हुई शक्तियोंवाला हो, तेरा हृदय भी विशाल हो, तेरा ज्ञान भी खूब बढ़ा हुआ हो। २. हे **सोम**=सौम्य व विनीत! **ते**=तुझे

विश्वतः=सब ओर से, सब सेवनीय पदार्थों से—**वृष्ण्यम्**=(वीर्य) शक्ति **समेतु**=प्राप्त हो। इसी शक्ति से ही तो तेरा आप्यायन व वर्धन होता है। ३. इस शक्ति को प्राप्त करके तू **वाजस्य**=त्याग व ज्ञान के **सङ्गथे**=मेल में **भव**=हो। 'शक्ति' एक ओर तेरा आप्यायन करनेवाली हो और दूसरी ओर यह तुझे त्याग व ज्ञान से युक्त करे। ४. वस्तुतः प्रभु-भक्त वही होता है जो (क) बढ़ी हुई शक्तियोंवाला हो। (ख) सौम्य होता हुआ वीर्यवान् हो। (ग) त्याग व ज्ञान से युक्त हो। ऐसे पुरुष की सब इन्द्रियाँ बड़ी उत्तम होती हैं, इसी से वह 'गौतम' कहलाता है—अत्यन्त प्रशस्त इन्द्रियोंवाला।

भावार्थ—प्रभु-शक्ति मनुष्य का वर्धन करनेवाली होती है। उसे सौम्य व सशक्त करती है। यह ज्ञानी बनकर त्यागशील होता है।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—सोमः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

गोदुग्ध-सेवन

सं ते पयाꣳसि समु यन्तु वाजाः सं वृष्ण्यान्यभिमातिषाहः।
आप्यायमानोऽअमृताय सोम दिवि श्रवाꣳस्युत्तमानि धिष्व॥११३॥

१. हे मेरे आराधक! **ते**=तुझे **पयांसि**=दूध **सम् यन्तु**=उत्तमता से प्राप्त हों, अर्थात् तू गौ इत्यादि पशुओं के पालन के द्वारा उत्तम दूध प्राप्त करनेवाला बन। २. **उ**=और इस दुग्ध-सेवन से **वाजाः**=तुझे शक्तियाँ **संयन्तु**=प्राप्त हों। ३. **वृष्ण्यानि**=वीर्य **सम्**=तुझे प्राप्त हों। ४. इस शक्ति को प्राप्त करके तू **अभिमातिषाहः**=अभिमान का धर्षण करनेवाला—समाप्त करनेवाला हो। ५. अभिमान को कुचलने के कारण **आप्यायमानः**=सब दृष्टिकोणों से वृद्धि को प्राप्त होता हुआ हे **सोम**=विनीत! तू **अमृताय**=अमृतत्व की प्राप्ति के लिए **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **उत्तमानि श्रवांसि**=उत्तम ज्ञानों को **धिष्व**=धारण कर।

भावार्थ—१. दुग्ध-सेवन हममें वाजों, बलों तथा वीर्य को धारण करता है। २. गोदुग्ध से शक्ति प्राप्त करके हम निरभिमान बने रहते हैं। ३. हमारी सर्वतोमुखी उन्नति होती है। ४. हम अमृतत्व को प्राप्त करते हैं। ५. हमारे मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि तीव्र होती है और हम उत्तम ज्ञानों को प्राप्त करके प्रभु के उपासक बनते हैं।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—सोमः। **छन्दः**—आसुर्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

आनन्दमय

आप्यायस्व मदिन्तम सोम विश्वेभिरꣳशुभिः।
भवा नः सप्रथस्तमः सखा वृधे॥११४॥

गोतम प्रभु से आराधना करता है कि—(१) हे **मदिन्तम**=अत्यन्त आनन्दमय प्रभो! **सोम**=अत्यन्त शान्त प्रभो! अथवा शक्ति के पुञ्ज प्रभो! **आप्यायस्व**=आप हमारा संवर्धन कीजिए। आपके द्वारा मैं इस संसार में सदा बढ़नेवाला बनूँ। प्रभु शान्त हैं, शक्ति के पुञ्ज हैं। इस शान्ति व शक्ति के कारण ही आनन्दमय हैं। हम भी प्रभु का इस रूप में स्मरण करते हुए शान्त बनें, सशक्त बनें और अपने जीवन को आनन्दमय बनाएँ। २. हे प्रभो! **सप्रथस्तमः**=आप अत्यन्त विस्तार-(प्रथ)-वाले हैं, सर्वव्यापक हैं। कोई भी स्थान आपसे खाली नहीं है। आप **विश्वेभिः अंशुभिः**=सब ज्ञान की किरणों से **नः**=हमारे **वृधे**=वर्धन के लिए **भव**=होओ। हम आपकी कृपा से ज्ञान प्राप्त करें, और ज्ञान के द्वारा उन्नति

करनेवाले बनें। ३. **सखा**=हे प्रभो ! आप ही हमारे सच्चे मित्र हैं। आपको प्राप्त करके क्या मैं अपने जीवन को आनन्दमय न बना पाऊँगा? क्या मेरा जीवन भी शान्त व शक्ति-सम्पन्न न होगा? अथवा उपासक होकर क्या मैं संकुचित हृदय रह जाऊँगा? नहीं, कभी नहीं, मेरा हृदय अत्यन्त विशाल होगा। मैं भी आपकी भाँति सभी का 'सखा' बनूँगा। मेरे मन में सभी के लिए प्रेम होगा। वस्तुतः उसी दिन मेरा यह 'गोतम' नाम सार्थक होगा। उस दिन मैं अत्यन्त प्रशस्त इन्द्रियोंवाला बन जाऊँगा।

भावार्थ—प्रभु अत्यन्त आनन्दमय हैं, शान्त व शक्ति-सम्पन्न हैं, अत्यन्त विस्तारवाले हैं, सभी के मित्र हैं। मैं भी ज्ञान प्राप्त करके ऐसा ही बनने का प्रयत्न करूँ।

ऋषिः—अवत्सारः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

ज्ञान की वृद्धि

आ ते॑ व॒त्सो मनो॑ यमत्पर॒माच्चि॑त्स॒धस्था॑त्।
अग्ने॒ त्वां का॑मया गि॒रा ॥११५॥

१. पिछले मन्त्र की बातों को अपने जीवन में लाने के लिए 'गोतम' अपनी शक्ति (वीर्य) की रक्षा करता है। शक्ति की रक्षा के कारण ही वह 'अवत् सार' कहलाता है—'सारभूत सोम (वीर्य) की रक्षा करनेवाला (अव रक्षणे)'। २. यह अवत्सार प्रभु से कहता है कि मैं **ते वत्सः**=तेरा प्रिय बनता हूँ। अथवा अपने जीवन से तेरा प्रतिपादन करता हूँ (वदतीति वत्सः), मेरा जीवन ऋत व सत्यवाला होता है। मेरी भौतिक क्रियाओं में ऋत (regularity) तथा आत्मिक क्रियाओं में सत्य होता है। ३. यह तेरा भक्त अवत्सार **परमात्**=अत्यन्त उत्कृष्ट **सधस्थात् चित्**=आपके साथ रहनेवाले मोक्षस्थान से भी **मनः आयमत्**=अपने मन को रोकता है, अर्थात् मोक्ष की कामना से भी ऊपर उठता है। ४. हे **अग्ने**=प्रकाशमय प्रभो! **गिरा**=ज्ञान की इन वेदवाणियों के हेतु से **त्वां कामया**=मैं तुझे चाहता हूँ। आपको प्राप्त करके मैं इन ज्ञान की वाणियों का प्राप्त करनेवाला बनूँगा। मेरा हृदय प्रकाशमय होगा। बस, मेरी तो यही कामना है कि आपकी कृपा से मेरा ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता जाए। यह ज्ञान की वृद्धि ही मेरी सब उन्नतियों का मूल बनेगी।

भावार्थ—मैं प्रभु का प्रिय बनूँ। मेरा जीवन प्रभु का प्रतिपादन करनेवाला हो। मैं मोक्ष की रट न लगाकर ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रभु को चाहूँ। मेरा ज्ञान बढ़ेगा। यह ज्ञान ही मुझे बढ़ानेवाला होगा।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

सुक्षितयः

तुभ्यं॒ ताऽअङ्गिरस्तम॒ विश्वाः॑ सु॒क्षित॑यः॒ पृथ॑क्। अग्ने॒ काम॑ाय येमिरे ॥११६॥

१. पिछले मन्त्र का अवत्सार प्रभु से ज्ञान प्राप्त करके विशिष्ट रूपवाला, ज्ञान-ज्योति से चमकते हुए चेहरेवाला—'विरूप' बन जाता है। यह विरूप प्रभु की आराधना करते हुए कहता है कि हे **अङ्गिरस्तम**=अङ्ग-अङ्ग में रस का सञ्चार करनेवालों में उत्तम प्रभो! **ताः**=वे **विश्वाः**=सब **सुक्षितयः**=उत्तम निवास व गतिवाले मनुष्य **पृथक्**=संसार की इच्छाओं से अलग होकर **अग्ने तुभ्यं कामाय**=हे अग्रेणी प्रभो! आपकी ही कामना के लिए **येमिरे**=अपने जीवन को नियमित करते हैं। 'यम-नियम' से ही योग-मार्ग का प्रारम्भ होता है। प्रभु के

साथ मेल 'यम-नियम' के बिना सम्भव नहीं। २. जिस समय हम चित्तवृत्ति को सब विषयों में जाने से रोक लेते हैं, उसी समय हम अपने स्वरूप को देख पाते हैं और उसी समय हम परमात्म-दर्शन के अधिकारी बनते हैं। इस संसार में हम (क) 'सुक्षिति'—उत्तम निवास व उत्तम गतिवाले बनें (ख) **पृथक्**=संसार के विषयों से अपने को अलग करने के लिए प्रयत्नशील हों। (ग) प्रतिदिन प्रभु-ध्यान व प्रभु-सम्पर्क द्वारा सब अङ्गों को रसमय बनाने का ध्यान रक्खें (अङ्गिरस्तम)। (घ) हममें प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामना हो (तुभ्यं कामाय)।

भावार्थ—सज्जन लोग 'यम-नियमों' को अपनाकर प्रभु-प्राप्ति के लिए अग्रसर होते हैं।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

प्रजापतिः

अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य। सम्राडेको विराजति॥११७॥

१. गत मन्त्र का 'विरूप' आराधक प्रभु को सारे संसार के रक्षक के रूप में देखता है, अतः वह 'प्रजापति' हो जाता है। प्रजापति के रूप में यह प्रभु को देख रहा है। २. यह कहता है कि वह प्रभु ही **'अग्निः'**=अग्रेणी हैं, सारे संसार को आगे और आगे ले-चल रहे हैं। ३. **प्रियेषु धामसु**=प्रिय-प्रसन्न करनेवाले तेजों के लिए **कामः**=(काम्यते) वे चाहने योग्य हैं, अर्थात् प्रभु का आराधन करके हमें वह तेजस्विता प्राप्त होती है जो प्रिय-ही-प्रिय होती है। रक्षा के कार्यों में विनियुक्त होकर वह हमें संसार में यशस्वी बनानेवाली होती है। 'बाहुभ्यां यशोबलम्' यह प्रार्थना प्रभु के आराधन से ही पूर्ण होती है। ४. **भूतस्य भव्यस्य सम्राट्**=वे प्रभु भूत व भव्य के सम्राट् हैं, जो कुछ हो चुका है या होना है उसके शासक वे प्रभु ही हैं। ५. **एकः**=वे अद्वितीय हैं। वे अपने निर्माण, धारण, प्रलय व कर्मानुसार फल-व्यवस्थात्मक कार्यों में किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं करते। ६. **विराजति**=वे विशिष्टरूप से देदीप्यमान हैं और विशिष्ट रूप में ही सारे ब्रह्माण्ड-यन्त्र को नियमित गति दे रहे हैं (direct, regulate) उपनिषद् के शब्दों में सब नदियाँ उन्हीं के अनुशासन में बह रही हैं। सूर्य-चन्द्रादि उसी के अनुशासन में चमक रहे हैं। वे प्रभु ही सारे ब्रह्माण्ड व सारी प्रजाओं के पति हैं।

भावार्थ—वे प्रभु अग्नि हैं, प्रिय तेज को प्राप्त करनेवाले हैं, भूत-भव्य के सम्राट् हैं, अद्वितीय हैं और प्रजापति हैं—सूर्य-चन्द्रादि उसी के अनुशासन में गति कर रहे हैं।

॥ इति द्वादशोऽध्यायः सम्पूर्णः॥